श्री जवाहर किरणावली—किरण—१३वीं

धर्म और धर्मनायक



व्याख्याता
स्व. जैनाचार्य पूज्य श्री १००८
श्री श्री जवाहरलाल आचार्य जी. म. सा.



सम्पादक
श्री पण्डित शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ



प्रकाशक—
श्री जवाहर विद्यापीठ
भीनासर (बीकानेर) राज०

प्रकाशक—

मंत्री—श्री जवाहर विद्यापीठ

भीनासर—३३४४०३

(बीकानेर) राजस्थान



संस्करण :—

संस्करण—1994— (1100 प्रतियां)



मूल्य—17/– रुपये



आवरण : अमित भारती, बीकानेर

मुद्रक—

नेशनल आर्ट प्रेस

कुचीलपुरा, गजनेर रोड,

बीकानेर दूरभाष : 25760

25% छूट श्री जवाहर विद्यापीठ द्वारा
25% छूट श्री सागरमल मोहनलाल चोरड़िया मद्रास एवं स्व. रंगलाल धोका की पुन्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री सुगनचन्द धोका, मद्रास द्वारा

प्रकाशकीय

'धर्म और धर्म नायक"—तेरहवीं किरण का पंचम संस्करण प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष की अनुमति हो रही है। पूर्व में इसका प्रकाशन श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल, ब्यावर से हुआ था परन्तु कुछ समय से अप्राप्त होने के कारण इसकी मांग बराबर बनी हुई थी।

यहां उल्लेख करना अप्रासांगिकनहीं कि यह किरणावली श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम द्वारा प्रकाशित 'धर्म व्याख्या' के आधार पर पं शातिलाल व सेठ न्यायतीर्थ द्वारा गुजराती में सम्पादित "धर्म अने धर्मनायक" का हिन्दी अनुवाद है। इसमें समाविष्ट विषय का विवेचन ऐसे विशाल दृष्टिकोण से किया गया है कि जैन-अजैन सभी इससे लाभ उठा सकते हैं। श्रीमान जवाहराचार्य द्वारा आत्मधर्म को राष्ट्रधर्म, ग्रामधर्म, नगर धर्म, कुल धर्म, संघधर्म आदि से जोड़कर नव वैचारिक आयाम प्रकट किया गया है। यहां उनका सम्प्रदायातीत एवं लोकधर्मी स्वरुप स्पष्ट होता है। जीवन धर्म को शुद्धि और सिद्धि के लिए इसमें दस प्रकार के लौकिक और लोकोतर धर्मों का निरुपण किया गया है तो दस प्रकार के धर्म नायकों का वर्णन करते हुए आचार्य

श्री ने ग्राम नेता, नगर नेता, संघ नेता, कुल नेता, राष्ट्र नेता आदि के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं वे आज भी प्रासंगिक है।

श्रीमद् जवाहराचार्य वर्तमान शताब्दी के एक ज्योतिर्धर प्रभावक जैनाचाय हुए हैं, जिनका व्यक्तित्व उदार दृष्टि, राष्ट्रीयता एवं विश्व मैत्री से ओत प्रोत था। आपने वैचारिक क्राति का शंख वाद कर जनमानस को प्रभावित किया तो एक आदर्श जावन दर्शन प्रदान कर आत्मोथान एवं उर्ध्वारोहण का मार्ग भी प्रशस्त किया । एक ओर आपने धार्मिक जड़ता हेतु व्यक्ति की चेतना जाग्रत की तो सामाजिक कुरीतियों मृत्यु भोज, दहेज-प्रथा, बाल वृद्ध विवाह) के उन्मूलन हेतु सतत प्ररणा भी दी। यही नहीं, आपने राष्ट्रीयता आन्दोलन के सत्याग्रह, अहिंसा प्रतिरोध, खादीधारण, अछूतोद्धार नारी शिक्षा व्यसन मुक्ति आदि रचनात्मक कार्यक्रमों से जुड़ने को आत्मधम ही माना।

साधना, संयम, आध्यात्मिक चेतना एवं सामाजिक जागृति समान्वित बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य श्री जवाहर की स्मृति में संस्थापित श्री जवाहर विधापीठ २४ अप्रेल सन् १९४४ से जवाहर साहित्य को लागत मूल्य में प्रकाशित कर रही है। इसकी स्थापना कर इसे गतिशील रखने में "भीनासर के भामाशाह" कर्म निष्ठ आदर्श समाज सेवी श्रावक रत्न सेठ श्री चम्पालाल जी बांठिया की अहम् भूमिका रही है । वि. सं. २००० में श्रीमद् जवाहराचार्य का भीनासर में स्वर्गवास हो जाने पर आपने उनको स्मृति को अक्षुण्ण बनाने हेतु संस्थानिर्माण की परिकल्पना की तो

त्रिवेणी संघ के श्रीमन्तों ने अपना पूर्ण सहयोग दिया। आपकी दूरदर्शिता, सूझबूझ एवं गुरु भक्ति को अन्ततः कर्त रुप मिला और आज हम गौरवान्वित है कि विद्यापीठ ने अर्द्धशताब्दी की यात्रा पूर्ण की है। स्मृति-पुरुष युग प्रवर्तक आचार्य श्री के प्रवचनों से संकलित जवाहर किरणावली के ५० भाग प्रकाशित कर संस्था ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। इस चिन्तनशील प्रवचन साहित्य का अध्यात्म कर हम अध्यात्म का अमृतपान तो करते ही हैं तंमुखी विकास भी कर सकते हैं।

"धर्म और धर्मनायक" के प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री अमर चंद जी लूणिया (भीनासर) द्वारा अपने पिताजी श्री लखमीचन्द जी लूणिया की पुण्य स्मृति में प्रदत अर्थ सौजन्य से हो रहा है। श्री लखमी चन्द जी सा. की श्री जवाहर विद्यापीठ की स्थापना एवं उन्नयन में विशेष योगदान रहा है। उल्लेखनीय है कि आपने स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहर लाल जी म सा. का स्मारक बनाने हेतु १६६८ गज जमीन अर्पित की। आप सरल एवं उदार वृति के आदर्श श्रावक थे। धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में सदैव तत्पर तो रहते ही अपने परिजनों, मित्रों व सम्बन्धियों को भी एतदर्थ सक्रिय रहने का राय देते। आप वर्षों से स्वयं आचाम्बित करते एवं अपने सम्पर्क में आने वालों को प्रेरित भी करते।

श्री लूणिया जी के उदारतापूर्ण सहयोग हेतु आभार व्यक्त करते हुए हमें विश्वास है कि श्रीमद् जवाहराचार्य की वाणी को जन-जन तक पहुंचाने के ज्ञान यज्ञ में उनका सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा।

जवाहर किरणावलियों के पुर्नमुद्रण हेतु श्री खेम चन्द जी छल्लाणी के अथक प्रयासों के प्रति आभार हं पर्याप्त नहीं है वस्तुतः विद्यापीठ को ऐसे कर्मठ कार्यकत पर गर्व है। नेशनल आर्ट प्रेस के कर्मचारियों के प्रति भ हम आभारी हैं जिनके सहयोग से इसका प्रकाशन तत्परत से हो सका।

निवेदक—

बाल चन्द सेठिया
अध्यक्ष

सुमति लाल बांठिया
मंत्री

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर



धर्म और धर्म नायक



किसी भी मकान या महल की मजबूती उसकी पुख्ता नींव पर अवलंबित है। इसीलिए मकान बनाते समम गहरी से गहरी और पुख्ता से पुख्ता नींव डाली जाती है।

मानव-जीवन यदि मकान के समान है तो धर्म उसकी नींव है बिना धर्म के मानव-जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन, मानव-जीवन न रह कर पाशविक जीवन बन जाता है। अत: जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और पुख्ता बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान शंका कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों से हिल जाएगा और उसका पतन हुए विना न रहेगा।

कमान की नींव मजबूत बनाने के लिए जैसे पानी की, चूने की, रेत की, सीमेन्ट की आवश्यकता है, उसी प्रकार पलस्तर की और रंग रोगन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

जवाहर किरणावलियों के पुर्नमुद्रण हेतु श्री खे चन्द जी छल्लाणी के अथक प्रयासों के प्रति आभार हं पर्याप्त नहीं है वस्तुतः विद्यापीठ को ऐसे कर्मठ कार्यकत पर गर्व है। नेशनल आर्ट प्रेस के कर्मचारियों के प्रति भं हम आभारी हैं जिनके सहयोग से इसका प्रकाशन तत्परत से हो सका।

निवेदक—

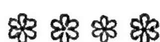
बाल चन्द सेठिया — अध्यक्ष

सुमति लाल बांठिया — मंत्री

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर



धर्म और धर्म नायक



किसी भी मकान या महल की मजबूती उसकी पुख्ता नींव पर अवलंबित है। इसीलिए मकान बनाते समय गहरी से गहरी और पुख्ता से पुख्ता नींव डाली जाती है।

मानव-जीवन यदि मकान के समान है तो धर्म उसकी नींव है बिना धर्म के मानव-जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन, मानव-जीवन न रह कर पाशविक जीवन बन जाता है। अतः जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और पुख्ता बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान शंका कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों से हिल जाएगा और उसका पतन हुए बिना न रहेगा।

मकान की नींव मजबूत बनाने के लिए जैसे पानी की, चूने की, रेत की, सीमेन्ट की आवश्यकता है, उसी प्रकार पलस्तर की और रंग रोगन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार मानव-जीवन रूप मकान की नींव की मजबूती नागरिकता, राष्ट्रीय भावना, धार्मिकता कुलीनता, सामूहिकता तथा एकता आदि लौकिक धर्मों के पालन की सर्वप्रथम आवश्कयता है। तत्पश्चात् धर्म को जीवनधर्म बनाने के लिए विचारशीलता क्रियाशीलता आदि लोकोत्तर धर्मों के पालन की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती हैं।

इस प्रकार जब लौकिक और लोकोत्तर धर्मों का ठीक तहह समन्वय करके पालन किया जाता है तब मानव जीवन का असली उद्देश्य-मोक्ष सिद्ध होता है।

लौकिक धर्मों का भलीभांति पालन किये बिना लोकोत्तर धर्मो का पालन करना ऐसा ही है जैसे सीढ़ियों के बिना ऊंचे महल में प्रवेश करने का निष्फल प्रयास करना। लौकिक धर्म से शरीर की और विचार की शुद्धि होती है और लोकोत्तर धर्म से अन्तःकरण एवं आत्मा की शुद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य लौकिक और लोकोत्तर धर्म का पालन करके अपने जीवनधर्म-आत्मिक धर्म की शुद्धि और अन्त में सिद्धि का लाभ प्राप्त करता है।

जीवन-धर्म की शुद्धि और सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म रूपी दस प्रकार के धर्मों की योजना की है। यही नहीं चूंकि धर्मनायकों के बिना धर्म टिक नहीं सकता, अतएव दस धर्मों के अनुरूप दस प्रकार के धर्मनायकों की भी सुन्दर योजना की गई है।

जैन सूत्र स्थानांग* (ठाणांग सुत्त) नामक तीसरे

---

*देखो ठाणांगसुत्र, दसवां ठाणा

अंगसूत्र में निम्नलिखित दस धर्मों का विधान किया गया है:—

(१) ग्राम धर्म (२) नगर धर्म (३) राष्ट्रधर्म (४) व्रतधर्म (५) कुल धर्म (६) गणधर्म (७) संघधर्म (८) सूत्रधर्म (९) चारित्रधर्म (१०) अस्तिकाय धर्म।

इन दस धर्मों का यथावत् पालन करने के लिए तथा अन्य प्रकार का नैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था की रक्षा करने के लिए दस प्रकार के धर्मनायकों की योजना की गई है। धर्मनायकों के नाम इस प्रकार है:—

(१) ग्रामस्थविर (२) नगरस्थविर (३) राष्ट्र-स्थविर (४) प्रशास्ता स्थविर (५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर (७) संघस्थविर (८) जातिस्थविर (९) सूत्र स्थविर (१०) दीक्षास्थविर।

प्रस्तक पुस्तक में इन्हीं दस धर्मों और धर्मनायकों की व्याख्या की जायगी।

❋❋❋❋❋

[१]

ग्राम धर्म

(गाम धम्मे)

❀ ❀ ❀

धर्म का बीजारोपण करने के लिए मानव जाति ग्रामधर्म रूपी की जोत करनी चाहिए। ग्रामधर्म की भूमि में से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि अनेक धर्मांकुर फूटते हैं।

जहां साधारण जन-समूह संगठित होकर अमुक मय दित संख्या में बसता हो, उस बस्ती को सामान्यता 'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम का जनसमूह जब अधिक संख्या में बढ़ जाता है और साथ ही उसमें कुछ ऊपरी विशेषताएं आ जाती हैं, तब वह ग्राम, ग्राम न रहकर 'नगर' बन जाता है। ग्रामों को लक्ष्य करके ग्राम धर्म का विधान किया गया है। नगरों के लिए एक जुदे 'नगर धर्म' की योजना की गई है।

जिस धर्म का पालन करने से ग्राम्य जीवन की रक्षा तथा उसका विकास होता है, वह साधारणतया ग्रामधर्म कहलाता है।

जहां सद्धर्म के प्रति अभिरूचि नहीं वहां सभ्यता या संस्कृति की रक्षा भी नहीं होती । सभ्यता की रक्षा के लिए ग्राम धर्म की आवश्यकता होती है । क्योंकि सभ्यता का उद्भवस्थान ग्रामधर्म ही है । अतएव जहां ग्रामधर्म की रक्षा नहीं की जाती, वहां सभ्यता या संस्कृति की सुरक्षा नहीं हो सकती । अनार्य देशों में ग्रामधर्म के अभाव के कारण सभ्यता भी नहीं होती और इसी कारण असभ्य अनार्य देश में साधु-संतों के विहार का भगवान् ने निषेध किया है ।

प्रत्येक गांव में सन्मार्गदर्शक अथवा मुखिया की बहुत ही मुख्य आवश्यकता होती है । मुखिया पुरुष ही ग्राम निवासियों को धर्म-अधर्म का, सत्य-असत्य का सुख-दुख का सच्चा ज्ञान कराता है और वही उन्हें सद्धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाता है।

केशी श्रमण जैसे चार ज्ञान के स्वामी ने चित-प्रधान जैसे सन्मार्गदर्शक को प्रेरणा से प्रदेशी राजा को सद्धर्म का उपदेश देकर धर्म का अनुरागी बनाया था ।

आज हमारी दशा इसके बिल्कुल विपरीत है । आज हम लोग साधु-पुरुषों को, सद्धर्म का उपदेश देने की प्रेरणा देने के बदले उनकी प्रशंसात्मक स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं और जब चित्त प्रधान ने समान सन्मार्गदर्शन बनने का काम सिर पर आ पड़ता है तब उससे दूर-दूर भागते हैं । । यह हमारी अकर्मण्यता का सूचक है । सन्मार्गदर्शक बनने के योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए, सच्चे कर्मठ व्यक्ति बनने की परम आवश-

कता है ।

जहां ग्रामधर्म जाग्रत होता है वहां जीवनधर्म की भूमिका तैयार होती है । बीज बोने से पहले खेत जोतना जैसे आवश्यक होता है, उसी प्रकार धर्म–बीज बोने के लिए मनुष्य को ग्रामधर्म की भूमिका तैयार करनी चाहिये । क्योंकि ग्रामधर्म की भूमिका से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं ।

जैसे खेती का मूल, खेत को जोतना है, उसी प्रकार धर्म का मूल ग्रामधर्म है । जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूपी मूल को नीति के जल से सींचा नहीं जायगा; तब तक सूत्रधर्म और चारित्रधर्म रूपी मधुर फल की आशा नहीं की जा सकती । जिस प्रकार मधुर फल पाने से पूर्व माली को प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म वृक्ष में से सुत्रचारित्र धर्म रूपी मधुर फल पाने के लिए मानव समाज को प्रबल पुरुषार्थ करने की भी परम आवश्यकता होती है ।

धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूपी मूल को, नीति-जल से नियमित सिंचन करके सुदृढ़ बना लेने के पश्चात् सुत्र चारित्र रूपी मधुर फल अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं ।



[२]

नगर धर्म

(नगर धम्मे)



नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यपालन करने में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

जब ग्राम का विस्तार बढ़ जाता है, तब वह नगर के रूप में परिणत हो जाता है, इससे यह स्पष्ट है कि ग्राम, नगर का ही एक भाग है। अतएव ग्राम का धर्म भी नगरधर्म गिना जाता है।

ग्राम और नगर का आपस में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। नगर का प्रधान आधार ग्राम है। ग्राम के बिना नगर का जीवन नहीं टिक सकता। साथ ही नगर के बिना ग्राम की रक्षा भी नहीं हो सकती। अगर ग्राम अपने धर्म ग्रामधर्म को भूल जाय और नगर अपने नगर धर्म का विस्मरण कर दे तो दोनों का ही पतन अवश्य सम्भव है।

धर्म का विस्मरण कर दे तो दोनों का ही पतन अवश्य सम्भव है।

शरीर और मस्तिष्क का आपस में जितना घना सम्बन्ध है, उतना ही घना सम्बन्ध ग्रामधर्म और नगर-धर्म दोनों का आपस में है। ग्राम्य-जन अगर शरीर के स्थान पर हैं तो नागरिक जन मस्तिष्क की जगह। जब शरीर स्वस्थ होता है तभी मस्तिष्क स्वस्थ रह सकता है, यह बात कौन नहीं जानता ? यद्यपि मस्तिष्क शरीर प्रमाण में छोटा है फिर भी समस्त शारीरिक कार्यों का सचालन मस्तिष्क से ही होता है। दैवयोग से अगर मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है तो वह अपने साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर को भी हानि पहुंचाता है।

वर्तमान काल नागरिकों की अवस्था-व्यवस्था बड़ी विकृत हो रही है। उन्हें अपनी रक्षा का भी भान नहीं है। उनका धार्मिक जीवन प्रायः नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। ग्रामधर्म को अपना आधार न मान कर ग्रामों की ओर अक्षम्य उपेक्षा का भाव धारण करके आज के नागरिक अपने समय, शक्ति और संपत्ति का, नाटक, सिनेमा, नाच-रंग फैशन आदि में दुरुपयोग कर रहे हैं। इससे अधिक और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो अपने धर्म–कर्त्तव्य का पालन करने का बोध तक नहीं रहा।

आज के नागरिकों की स्थिति बहुत खराब है। इस स्थिति में उनसे ग्राम्यजनों की रक्षा की क्या आशा की जा सकती है ? मस्तिष्क के अस्थिर हो जाने से जिस प्रकार शरीर को अवश्य ही हानि पहुंचती है, उसी प्रकार

नागरिकों द्वारा अपना नगरधर्म भुला देने के कारण ग्राम्यजन अपना ग्रामधर्म भूलते जाते हैं ।

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नाग-रिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है ।

वर्त्तमान स्थिति में नागरिकों का मूल धर्म क्या है! इस प्रश्न का समाधान अपने ही दृष्टांत के द्वारा कहता हूं

आप लोगों ने मुझे आचार्य पद पर आसीन किया है अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं आप लोगों को धर्मोपदेश देकर आचार में स्थिर करूं । अगर मैं निष्क्रिय होकर एक ओर बैठ जाऊं और आचार-धर्म का उपदेश न प्रदान करूं तो आप मुझे क्या कहेंगे ?

आप कहेंगे – आचार्य महाराज, आप आचारधर्म का उपदेश न देकर बैठे रहेंगे तो आचार्यधर्म का पालन किस प्रकार होगा ? आपको आचारधर्म का उपदेश तो अवश्य देना ही चाहिये ?

आपका यह कथन न्याययुक्त ही होगा । आप सबने मिलकर मुझे धर्म का आचार्य नियत किया है, अतएव आचारधर्म का उपदेश देकर मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये । इसी कर्त्तव्यपालन में आचार्य पद का महत्त्व समाया हुआ है ।

इसी प्रकार श्रावक के धर्म की रक्षा करना जैसे आचार्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार अपने आश्रित ग्राम्यजनों

की रक्षा करना भी नागरिकों का परम कर्त्तव्य है।

आचार्य जगत लापरवाह एवं निष्क्रिय बना बैठा रहेगा तो श्रावकों और साधुओं के धर्म की रक्षा एवं वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार अगर नागरिक लापरवाह और निकम्मे बन जाते हैं तो ग्राम्यजनों के कल्याण की बहुत ही कम संभावना हो सकती है।

आज राजनीतिक नेताओं में नागरिकों की ही संख्या अधिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक राजनीति नगर के हाथों में हैं। मगर नगरधर्म को भूल जाने के कारण, जो नागरिक धारासभाओं में या इसी प्रकार की अन्य राजनीतिक सभा में चुने जाते हैं, वे अपने कर्त्तव्य का यथाविधि पालन करते हों यह बहुत कम देखा जाता हैं। जो सभ्य, प्रजा के मन से चुने जाते हैं वे चुनाव से पहले तो बड़ी उदार और हितकर आदि प्रतिज्ञाएं करते हैं, परन्तु चुने जाने के बाद, उनमें से अधिकांश व्यक्ति कीर्ति लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर; प्रजाहित का घात करने वाले अनेक कानूनों का निःसंकोच समर्थन करते देखे जाते हैं। ऐसे लोग प्रजा के हित का संरक्षण करने के बदले प्रजा–हित का भक्षण करने में अपनी सम्पत्ति देखकर प्रजाहित के विरोधी कानून बनाने में सरकार का साथ देते हैं।

प्रजाहित के प्रतिकूल कानून बनाते, समय, जहां तक सम्भव हो, तीव्र से तीव्र विरोध करना प्रजापक्ष के सदस्यों का नगरधर्म है। मगर आज इस नगरधर्म की ओर बहुत थोड़े लोगों का ही ध्यान है। यही कारण है कि नागरिक लोग अपने ही हाथ से प्रजाहित का घोर विघात कर

रहे हैं ।

कुछ नागरिकों में आज एक भ्रान्त धारणा घुसी हुई है । वे समझते हैं—'सरकार-राजा द्वारा घड़े हुए कानूनों का विरोध करना राजा-सरकार का विरोध करना है और शास्त्र की यही आज्ञा है कि राजा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये ।

जो लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं वे शास्त्र के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते । शास्त्रकारों ने—

विरुद्ध रज्जाइक्कम्मे

को दोष बतलाया है । इसका तात्पर्य है—राज्य से विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये । अर्थात् राज्य द्वारा की हुई सुव्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । इस सूत्र के विषय में सामान्यता जनता में जो भ्रम फैला हुआ हैं वह 'राज्य' और 'राजा' शब्द के अर्थ में अन्तर न समझने के कारण है ।

जो सामान्यज्ञान के लोग हैं वे राज्य और राजा को एक ही समझ बैठते हैं । यह उनकी बहुत बड़ी भूल है । राज्य का अर्थ—देश की सुव्यवस्था से हैं । राज्य अर्थात् देश की सुव्यवस्था का विरोध न करना, यह शास्त्र का आदेश है । मगर यदि राजा अनीति, अनाचार या स्वार्थ से राज्य व्यवस्था को दूषित करता हो तो उसके विरुद्ध आन्दोलन करना जैन शास्त्रों के विरुद्ध नहीं है । जैनशास्त्र ऐसे पवित्र आन्दोलनों का निषेध नहीं करते ।

आज शराब, गांजा, भांग, अफीम आदि मादक पदार्थों पर सरकार अपना एकाधिपत्य रखती है। कल्पना कीजिए प्रजा ने मादक द्रव्यों से होने वाली हानियां समझ लो और उनका त्याग किया तो प्रजा के इस त्याग से सरकार की आमदनी को धक्का पहुंचा। सरकार ने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए एक नियम जारी किया कि प्रति-दिन प्रत्येक पुरुष को शराब का एक प्याला पीना अनि-वार्य होगा। ऐसी स्थिति में प्रजा का कर्त्तव्य क्या होगा? सरकार का विरोध करना उचित नहीं है, ऐसा मानकर प्रजा क्या चुपचाप बैठी रहेगी ? क्या वह सरकार के इस अनीतिमय नियम को शिरोधार्य कर लेगी ? कदापि नहीं। अगर प्रजा में नैतिकता की भावना विद्यमान है, अगर प्रजा में जीवन है, बल है तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर सरकार का विरोध करेगी और उसका विरोध धर्म एवं नीति से सगत समझा जायेगा।

राजा अथवा सरकार की ऐसी अनुचित आज्ञा का विरोध करना प्रजा तथा नागरिकों का विशेष कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, एक अनुचित कानून को हटाने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर दूसरे कानूनों का विरोध करना भी प्रजा का कर्त्तव्य हो जाता है। क्योंकि प्रजाहित के विघा-तक कानून को स्वीकार कर लेने से प्रजा की भौतिक हानि ही नहीं होती वरन् प्रजा में नैतिक पतन का भी प्रवेश हो जाता है।

'विरुद्धरज्जाइक्कम्मे' अर्थात् 'राज्य विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये' जैन शास्त्र के इस आदेश का उल्लिखित

अर्थ समझा गया होता तो आज जो लोग जैनधर्म को कायरों का धर्म कहते हैं, उनके मुंह पर सील लगा होती उन्हें ऐसे कहने का साहस ही न हुआ होता।

जैनधर्म का मुख्य सिद्धांत अहिंसावाद है। जैन अहिंसावादी होता है। अहिंसावादी कायर नहीं, वीर होता है सच्चा अहिंसावादी एक ही पुरुष, अहिंसा की असीम शक्ति द्वारा रक्त की एक भी बूंद गिराये बिना, बड़ी से बड़ी पाशविक शक्तियों को परास्त करने की क्षमता रखता है अहिंसा में ऐसी असीम और अमोघ शक्ति है।

इस अन्धानुकरणशील युग में अज्ञानी ग्राम्यजन, नागरिकों की भांति नाटक, सिनेमा, नाच रंग फैशन आदि समय, शक्ति और संपत्ति का अपव्यय करना सीख रहे हैं उसका नतीजा हमारे सम्मुख यह है कि ग्रामों में विलासिता ने गरीबी को आमन्त्रित किया है और गरीबी के कारण जीवनदायक भी; दूध आदि पदार्थ मिलना कठिन हो रहा है। यह अन्धानुकरणजन्य विलासिता का दुष्परिणाम ही है।

व्यक्ति, समष्टि का अंग है। समष्टि अगर एक मशीन है तो व्यक्ति उसका एक पुर्जा है। समष्टि के हित में व्यक्ति का हित निहित है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह समष्टि के हित को सामने रख कर सत्प्रवृत्ति करें। इस प्रकार सत्यप्रवृत्ति करने में मानव जाति का कल्याण है।

जो मनुष्य अपने और अपने माने हुए कुटुम्ब के हित

पालन में ही तत्पर रहता है और प्राणीमात्र के हित का विचार नहीं करता, वह नीतिज्ञ नहीं, नीतिघ्न है।

मानव स्वभाव सदा अनुकरणशील है। जैसे बालक अपने माता-पिता आदि का अनुकरण करता है, उसी प्रकार अशिक्षित या अर्धशिक्षित ग्राम्यजन, शिक्षित नागरिकों का अनुकरण करते हैं। माता-पिता का भला या बुरा प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रहता है, उसी प्रकार नागरिकों की अच्छाइयों और बुराइयों का असर ग्राम्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता।

नगर निवासी जन यदि ग्राम्यजनों के हित को सामने रखते हुए नगरधर्म का यथावत् पालन करेंगे तो राष्ट्र का अधिक हित होने की सम्भावना की जा सकती है।





[३]

राष्ट्र धर्म

[रट्ठ धम्मे]



जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी है।

जब ग्रामों में ग्रामधर्म का और नगरों में नगर ध का यथोचित पालन होता है तब राष्ट्रधर्म की उत्पत्ति होत है । ग्राम में यदि प्रामाणिक मनुष्यों का निवास होगा त नगर निवासियों को भी प्रामाणिक बनना पड़ेगा और ज नगर निवासी प्रामाणिक बनेंगे तो उनका प्रभाव सम्पूर राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहेगा ।

भारतवर्ष के अधोपतन का कलंक आज ग्रामीण जनत पर नहीं किन्तु नागरिकों के सिर पर थोपा जाता है वास्तव में बात सच्ची भी है ।

जब से भारतवर्ष का अध:पतन आरम्भ हुआ है, त से अब तक का इतिहास देखने से मालूम होता है कि कु नागरिकों ने अपने धर्म का पालन नहीं किया और इस

कारण राष्ट्रधर्म का लोप हो गया ।

जयचन्द के जमाने से लेकर, मीरजाफर तथा उसके बाद, आज तक हम ऐसी ही दुरवस्था देखते आ रहे हैं ।

बंगाल में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के कार्यकर्त्ता अपनी कुटिलता से देश को दुःख दे रहे थे और नमक जैसी सर्व-साधारणोपयोगी वस्तु के ठेकेदार बन कर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि जिस किसी के घर में पांच सेर नमक निकल आता उसकी समस्त सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी । यही नहीं, वे अपना व्यापार बढ़ाने के लिये तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए प्रसिद्ध एवं कुशल बुन-करों के हाथ के अंगूठे तक काट लेते थे ।*

जरा उस जमाने की ओर ध्यान दीजिये । उस समय त्याचारों का प्रतिकार करना असंभव सा हो गया था । सका प्रधान कारण यही था कि जगतसेठ अमीरचन्द तथा हाराज नन्दकुमार जैसे प्रसिद्ध नागरिक अपने स्वार्थ के ातिर देशद्रोही बन गए थे ।

भारत की बात जाने दीजिये । किसी दूसरे राष्ट्र पतन के कारणों को खोज कीजिये । आपको मालूम ोगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों ने अपना नगरधर्म यथो-वत् रूप से पालन नहीं किया और इसी कारण उस राष्ट्र ा अधःपतन हो गया ।

आज मुठ्ठीभर विदेशी चालीस करोड़ भारतवासियों

---

*देखो 'प्लासी का युद्ध' बंगाल देहाल, नामक पुस्तकें ।

काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

एक भारतीय सज्जन (!) योरोप की किसी बड़ी लाइब्रेरी में ग्रन्थ अवलोकन करने गये। वहां पर सचित्र ग्रन्थ पढते-पढ़ते एक सुन्दर चित्र उन्हें नजर आया। यह चित्र उन्हें बहुत पसन्द आया। उन्होंने चोरी से उसे फाड़ लिया संयोगवश लाइब्रेरियन को पता चल गया। उसने जांच पड़ताल की। उस भारतीय को पकड़ा और दण्ड दिलाया। इस भारतीय के दुष्कृत्य का नतीजा सारे देश को भोगना पड़ा। उस लाइब्रेरी में यह नियम बना दिया गया कि इस लाइब्रेरी में कोई भी भारतीय बिना आज्ञा के प्रवेश न करें।

सैंकड़ों भारतीय विद्यार्थी इस ग्रन्थालय में जाकर लाभ उठाते थे। एक व्यक्ति के दुष्कृत्य से वह लाभ मिलना बन्द हो गया। विद्यार्थियों के ज्ञानाभ्यास में बाधा पड़ी। यही नहीं समाचार-पत्रों में इस घटना की खूब चर्चा की गई और भारतीयों को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रधर्म का पालन न करने से समूचे राष्ट्र को अप्रतिष्ठा और हानि का शिकार होना पड़ता है।

इसके विपरीत विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, डा० जगदीशचन्द्र बोश, स्वामी विवेकानन्दजी, महात्मागांधी जैसे राष्ट्र हितैषियों ने योरोप आदि देशों की यात्रा द्वारा राष्ट्र धर्म का पालन करते हुए अपनी राष्ट्रीयता उन्नत राष्ट्रीय भावना का परिचय देकर, भारतमाता की गुणगाथा गाकर

उसकी महत्ता प्रकाशित करके स्वदेश का मस्तक ऊंचा उठाया है। इसलिए कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं, आत्मकल्याण में तत्पर रहने वालों को ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्र धर्म आदि की क्या आवश्यकता है? मगर वास्तव में यह कथन सही नहीं है। आत्मशोधकों को भी ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्र धर्म के साथ थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखना ही पड़ता है। क्योंकि साधुओं को ग्राम नगर और राष्ट्र के अन्दर ही रहना पड़ता है, और वहीं से आहार पानी ग्रहण करना पड़ता है। ... अगर अधर्मी, चोर या अत्याचारी होंगे तो उनका अन्न खाने वाला साधु धर्मात्मा, स्वतन्त्र विचार करने वाला, महात्मा और आत्मशोधक कैसे बन सकेगा? कहावत प्रचलित है—"जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।" मानसशास्त्र में बतलाया है कि जैसे विचार रखने वाले का आहार खाया जायेगा, प्रायः वैसा हो विचार खाने वाले का हो जायगा।

जहां तक गृहस्थ उपासकों का जीवन पवित्र नीतिमय नहीं बनता वहां तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना कठिन है। अगर गृहस्थ-उपासक अपने धर्म का पालन करने में दृढ़ रहें तो साधुओं को भी संयम पालन में दृढ़ रहना ही पड़ेगा। यह एक ध्रुव सत्य है।

श्री दशवैकालिक सूत्र की पहले अध्ययन की पहली गाथा की टीका में, नीतिमान पुरुषों का न्यायोपार्जित अन्न ही साधुजनों को ग्राह्य बतलाया है।

जब तक राष्ट्र का प्रत्येक सभ्य व्यक्ति राष्ट्र धर्म का भली-भांति पालन नहीं करता तब तक सूत्र चरित्र धर्म सदैव खतरे में रहता हैं। क्योंकि राष्ट्र धर्म आधार है और सूत्रचारित्र धर्म आधेय हैं। आधार के अभाव में आधेय किसके सहारे टिक सकता है? जैसे पात्र के अभाव में घो नहीं टिक सकता, उसी प्रकार राष्ट्रधर्म के बिना सूत्र-चारित्र धर्म नहीं टिक सकता।

यह बात नीचे लिखे उदाहरण से विशेष स्पष्ट हो जायेगी:-

मनुष्यों से भरा हुआ एक जहाज नदो के बीचोंबीच जा रहा है। मार्ग में एक मूढ़ मनुष्य, किसी एक मनुष्य, को उठाकर नदी में फेंकने को तैयार होता है और दूसरा मूढ़ तेज धार वाले शस्त्र से जहाज में छेद करने का प्रयत्न कर रहा है। इस स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है इन दोनों में से पहले किसे रोका जाय ? अगर बुद्धिमान पुरुषों से इस प्रश्न का उत्तर मांगा जाय तो वह यह कहेगा कि जहाज में छेद करने वाले को पहले रोकना उचित है।

इस उत्तर से सामान्य मनुष्य के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जहाज में छेद करने वाले को पहले और नदी में फेंकने वाले मनुष्य को बाद में क्यों रोका जाय ? क्या जहाज का मूल्य मनुष्य के मूल्य से अधिक है।

ऐसी आशंका करने वाले को समझना चाहिये कि

जहाज में कोई मुसाफिर न होता, जहाज नदी के कि
पड़ा होता और उस समय उसमें छेद किया जाय तो
हानि नहीं थी। पर जब जहाज नदी के बीच जा रहा
उस समय उसमें छेद हो जाय तो तमाम यात्री नदी
डूब मरेंगे। अतएव ऐसी स्थिति में जहाज के मूल्य
अर्थ होता है बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन का मूल्य।

अगर प्रत्येक व्यक्ति जहाज में छेद होते देख
आत्मरक्षा के ही प्रयत्न में लग जाय और दूसरों की पर
न करे तो उसका परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा।

जो लोग राष्ट्र की रक्षा करने के बदले केवल
की ही रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें भी उपर्युक्त उदाहर
ध्यान में रखना चाहिये।

आत्मधर्म की बातें करने वाले और संसार से संब
रखने वाले लोग बहुत से काम करते हैं, परन्तु जब आचा
रधर्म के पालन का प्रश्न उपस्थित होता है तब वे कह
लगते है कि—हमें दुनियादारी की बातों से क्या रोका
है? ऐसे लोग आत्मधर्म की ओट में राष्ट्र के उ
से विमुख रहते हैं।

भगवान् महावीर जैसे महापुरुष केवल ज्ञान प्राप्त
कर लेने के पश्चात् भी, केवल समष्टि—जगत् के हित के
उद्देश्य से धर्म का उपदेश दिया था और देश-देशान्तर में
भ्रमण करके मोक्ष का राजमार्ग बतलाया था। जब जीवन-
मुक्त केवलज्ञानी ऐसा व्यवहार करते हैं तब संसार में रहने
वाले जो लोग कहते हैं कि हमें ग्राम, नगर या राष्ट्र से

ा मतलब है ? उन पामर पुरुषों की यह कितनी बड़ी लघनता है ?

पतित का उद्धार करना व डूबते को उबारना, यही र्म है । इस सामान्य वस्तु को समझते हुए भी कुछ लोग से हैं जो राष्ट्ररक्षा के कामों से कोसों दूर रहते हैं । ाष्ट्र के प्रति इस प्रकार की उदासीनता होने के कारण राष्ट्रधर्म की महत्ता का अज्ञान है । जिन्होंने राष्ट्रधर्म ा महत्व नहीं समझा वही लोग राष्ट्रहित के प्रति उदासीन हते हैं ।

जिसके हृदय में आत्म सम्मान का भाव होगा वह नुष्य अपना अथवा अपनी माता का अपमान कभी सहन हीं कर सकता । वह अपना या अपनी माता का अप-ान देखकर विचलित हो उठता है ।

हम लोगों को जन्म देने वाली पाल-पोस कर बड़ा रने वाली माता तो, माता है हो, मगर अपने पेट में से ानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर में से अन्न नकाल कर देने वाली, स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र ने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है । ाता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय, उतना ही कम है ।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी हैं । यह कथन सोलह आने सत्य है । यह भारतवर्ष अपना देश है । अपनी मातृभूमि है । हम सब उसकी सन्तान है ।

माता का सम्मान करना माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना प्रत्येक सन्तान का कर्त्तव्य है ।

जिन कानूनों एवं विदेशी वस्तुओं के व्यवहार के कारण मातृभूमि की इज्जत मिट्टी में मिलती हो, राष्ट्रधर्म को धक्का लगता हो और स्वाधीनता बिक जाती हो, उन कानूनों को, विदेशी वस्तुओं के व्यवहार को बन्द कर देने के बदले, विलास की सामग्री बढ़ाकर राष्ट्रीय सम्पत्ति और शारीरिक सम्पत्ति को स्वाह करना और इस प्रकार राष्ट्र के बन्धनों को ढीला करने के बदले और अधिक मजबूत बनाना मनुष्यत्व के विरुद्ध है । मातृभूमि के प्रति पुत्र की जैसी भावना होनी चाहिए वैसी भावना इस व्यवहार में नहीं है ।

माता की मुक्ति के लिए पुत्र को स्वदेशाभिमान, स्वार्पण और सेवा के सूत्र स्वीकार करने चाहिए ।

निम्नलिखित स्वर्णाक्षर अपने हृदयपटल पर अंकित कर लो—

राष्ट्र की रक्षा हमारी रक्षा है । राष्ट्र के विनाश में ही हमारा विनाश है ।

शास्त्रों का अवलोकन करने से एक बात स्पष्ट रूप से ध्यान में आ जाती है । वह यह कि राष्ट्रधर्म के बिना सूत्र चारित्रधर्म नहीं टिक सकता । इस बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

श्री ऋषभदेव भगवान ने अवतरित होकर ग्रामधर्म,

नगर धर्म और राष्ट्र धर्म की स्थापना की थी। उन्होंनें अपने जीवन के बीस भाग कुमार अवस्था में व्यतीत किये थे और सरसठ भाग राष्ट्र धर्म के संशोधन और प्रचार में लगाये थे। उन्होंने अपने जीवन का भाग सूत्र चारित्रधर्म के प्रचार में लयाया था।

इसके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' नामक सूत्र में उल्लेख है-पहले सूत्र-चारित्र धर्म का नाश होगा, फिर राष्ट्र धर्म का नाश होगा। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जब तक सूत्र चारित्त-धर्म है तब तक राष्ट्रधर्म का अस्त्वि अनिवार्य है। इसी कारण सूत्र-चारित्तधर्म का प्रचार करने के लिए सर्व प्रथम, श्री ऋषभदेव नें राष्ट्र-धर्म का प्रचार किया था।

उलिखित प्रमाणों के अनुसार सूत्रचारित्रधर्म का नाश होने के पश्चात् भी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहेगा। अर्थात् सूत्रचारित्तधर्म की उत्पत्ति से पहले और उसके विन।स के बाद भी राष्ट्र धर्म प्रचलित रहता है।

जो लोग कहते हैं—'राष्ट्र धर्म से हमें क्या लेना देना है ?' उनसे पूछना चाहिए तुम्हारा सूत्र-चारित्र धर्म के साथ सम्बन्ध है या नहीं ? अगर सम्बन्ध है तो सूत्र—चारिजधर्म बिना राष्ट्रधर्म के टिक नहीं सकता, अतएवं सूत्र-चारित्तधर्म का पालन करने के लिए राष्ट्र धर्म का भी पालन करनें के लिए राष्ट्र धर्म का भी करना परम आवश्यक है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में राष्ट्र धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता।

स्थानांग सूत्र में कहा है:—

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता । तं जहा छक्काए, गणे, राया, गिहवई सरीरं।।

—ठाणा ५, सूत्र ४४

अर्थात्—सूत्र, चारित्रधर्म को अंगीकार करने वा साधुओं को भी पांच वस्तुओं का आधार लेना पड़ता है वे इस प्रकार हैं–(१) षट्काय (२) गच्छ (३) राजा (४ गृहपति (५) शरीर ।

ऊपर अंकित किये गये शास्त्रोल्लेख से भी यह बा स्पष्ट हो जाती है कि इन पांच वस्तुओं का आश्रय लि बिना सूत्रचारित्र-धर्म का टिकाव नहीं हो सकता ।

ऊपर के सूत्र में प्रयुक्त 'राजा' शब्द राज्य या रा अर्थ का वाचक है। अगर राष्ट्रीय व्यवस्था अर्थात् राज प्रबन्ध अच्छा न हो तो चोरी, हिंसा अत्याचार अनाचा आदि कुकर्म फैल जाएंगे और तब सूत्र-चारित्रधर्म क समुचित रूप से पालन नहीं हो सकेगा ।

इसका कारण स्पष्ट है । जो लोग अपनी रक्षा ‍ लिए अस्त्र-शस्त्र रखते हैं, उनकी भी रक्षा राज्य की सुव्य वस्था के बिना नहीं हो सकती । वे दुष्ट लोगों से भली भांति अपनी रक्षा नहीं कर सकते । ऐसी हालत में मुनिजन जो दूसरों को मारने के लिए लकड़ी का एक टुकड़ा भ नहीं रखते राज्य की सुव्यवस्था के बिना दुष्टों की दुष्टत से बचकर शान्तिपूर्वक धर्म का पालन कैसे कर सकते हैं इसी उद्देश्य से शास्त्रकारों ने राजा को धर्म का रक्षक औ पालक माना है । राष्ट्रधर्म, सूत्र-चारित्रधर्म की रक्षा करत

इसी कारण शास्त्रकारों ने राष्ट्र-धर्म को अनिवार्य
ावश्यकता स्वीकार की है।

जो लोग एक तरफ तो धर्म का रक्षण करते हैं और
सरी तरफ धर्म का नाश होने देते हैं, क्या वे वास्तव में
र्म की रक्षा कर सकते हैं ? नहीं ! केवल सूत्र–चारित्र-
र्म को धर्म समझना और राष्ट्र धर्म को धर्म न मानना,
कान की नींव खोद कर उसे स्थिर बनाने के समान अथवा
क्ष की जड़ उखाड़ कर उसे हरा-भरा बनाने का प्रयत्न
रने के समान हैं।

सूत्र–चारित्रधर्म, मकान अथवा वृक्ष के समान है,
बकि राष्ट्र-धर्म नींव अथवा वृक्ष के मूल के समान है।

जो लोग ग्रामधर्म, नगरधर्म, और राष्ट्र धर्म का
लोच्छेदन करते हैं, वे परोक्ष रूप से सूत्र–चारित्रधर्म का भी
नषेध कर रहे हैं, अतएव चारित्रधर्म के नाम पर जो लोग
ाष्ट्र धर्म आदि की अवहेलना करते हैं, उन्हें शास्त्र धर्म
ौर समयधर्म का गहन चिन्तन और मनन करना चाहिये।
बना सोचे-विचारे अथवा शास्त्रों का गहराई के साथ
ध्ययन-मनन किये बिना किसी की भली बुरी बात को
ान लेने से, आगे चलकर पश्चात्ताप करने का प्रसंग
उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार काल्पनिक, भ्रमपूर्ण
वचार-धारणा करने से आज नहीं तो भविष्य में राष्ट्र,
माज और धर्म को भयंकर हानि पहुंचने की संभावना
। इसलिए मैं जोर देकर बार-बार कहता हूं कि—प्रत्येक
ात पर विवेकपूर्वक विचार करो। दूसरे लोग जो कुछ
हते हैं, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और सात्विक दृष्टि से शास्त्रों

का अवलोकन करो । केवल अन्धविश्वास से प्रेरित होकर या संकुचित मनोवृत्ति से अपनी मनकल्पित बात को मत पकड़ें रखो । दुराग्रह या स्वमताग्रह के फेर में मत पड़ो।

राष्ट्र–धर्म की महत्ता समझने और समझाने वालों की संख्या कम हो जाने के कारण, आज राष्ट्र धर्म का आचरण करना कठिन हो रहा है और राष्ट्र धर्म का यथोचित परिणाम में आचरण न होने से लोग जैनधर्म को संकीर्ण और अव्यवहार्य धर्म कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं ।

राष्ट्र धर्म की व्याख्या करने से पहले भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि आप लोग भगवान् ऋषभदेव द्वारा उप दृष्टि राष्ट्र धर्म को ठीक-ठीक समझ जाएं ।

शास्त्र में कहा है:—

पयाहियट्ठयाए–प्रजाहितार्थाय ।'

अर्थात् प्रजा के हित के लिए भगवान् ऋषभदेव ने राष्ट्र-धर्म आदि की स्थापना की थी । उन्हीं के द्वारा स्थापित की हुई राजनीति से आज हमारा व्यवहार चल रहा है । भगवान के द्वारा स्थापित की हुई नीतियां प्रजा का कितना अधिक हित-साधन करने वाली हैं, इस बात को समझने के लिए उनके द्वारा स्थापित नीतियों में से केवल एक विवाहनीति को समझ लेना ही पर्याप्त होगा ।

आज अगर विवाहप्रथा न हो तो मानव-समाज की

क्या स्थिति होती ? युगलिया जीव शान्त स्वभाव वाले थे वे अपनी काम वासना पर अंकुश रख सकते थे, मगर आज ऐसी हालत नहीं है। विवाह बन्धन होने पर भी अधिकांश लोग परस्त्री की ओर विकार-दृष्टि से देखते हैं। ऐसी दशा में अगर विवाह का बन्धन न होता तो मानव समाज की स्थिति पशुओं से भी बदतर होती या नहीं ? पशुओं में अब भी मर्यादा दिखाई देती है। मनुष्य समाज में वैवाहिक प्रथा विद्यमान होने पर भी कामवासना को तृप्त करने की मर्यादा नहीं है, तो अगर विवाह प्रथा न होती तो मानव-समाज किस स्थिति में होता, यह कल्पना ही भयंकर मालूम होती है।

इस बात पर विशेष विचार करने से भगवान् ऋषभ-देव द्वारा स्थापित की हुई राजनीति का तथा उनके द्वारा प्ररूपित राष्ट्रधर्म का महत्त्व समझ में आ सकता है।

राष्ट्र धर्म का मुख्य सार यह है:—

ऐक्य राज्य, स्वातन्त्र्य, यही तो राष्ट्र अंग।
सिर, धड़, टांगों सदृश, जुड़े हैं अंग-संग हैं॥
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार में।
मिला शान्ति-सुख राष्ट्र के पावन पारावार में॥

X X X X

अंग राष्ट्र का बना हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो।
केन्द्रित नियमित किये सभी को राज्य शक्ति हो॥
भरा हृदय में राष्ट्र गर्व हो, देशभक्ति हो।
समता में अनुरक्ति विषमता से विरक्ति हो॥

X X X X

राष्ट्र पता का पर लिखा रहे—'न्याय-स्वाधीनता'।
पराधीनता से नहीं बढ़ कर कोई दीनता ॥

—त्रिशूल।



[४]

व्रतधर्म

(पाखंड धर्म्म)



अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेयव्रत, अभयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत स्वादेन्द्रियनिग्रव्रत, अरिग्रहव्रत, आदि-आदि जो व्रत तुमने धारण किये हों, उनमें दृढ़ रहना, उनसे महात्मा गांधी की तरह चिपटे रहना। यही सब प्रकार की विजय की चाबी है। यही अपना धर्म है।

धर्म का पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय अर्थात् व्रतधर्म की खास आवश्यकता इस बात को लक्ष्य में रख कर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का समुचित पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय—व्रतधर्म की आवश्यकता स्वीकार की।

व्रतधर्म का अर्थ क्या है ? जीवन में व्रतधर्म का क्या और कितना स्थान है ? व्रतधर्म के पालन से धर्म का पालन किस प्रकार होता है ? इन प्रश्नों पर यहां थोड़ा-सा प्रकाश डाला जायगा ।

शास्त्रकारों ने व्रतधर्म का 'पाखण्डधर्म' के नाम से वर्णन किया है । यहां 'पाखण्ड' शब्द जरा अटपटा-सा मालूम होता है, पर यह समझ रखना चाहिए कि सामान्यता 'दंभ' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'पाखण्ड' शब्द यह नहीं है । यहां 'पाखण्ड' शब्द 'व्रत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।* अतएव 'पाखण्ड' शब्द मात्र से घबराने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि यहां प्रयोग किया गया 'पाखण्ड' शब्द निर्भय बनाने वाला और व्रत-पालन में दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने वाला है ।

---

*डा० होर्नल 'पाखण्ड शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं:—परमापण्डा: परदर्शनिनस्तेषां प्रशंसा गुणोत्कोर्त्तनम् परपाषन्ड-प्रशंसा । परपाषण्डसंस्तवस्तस्य परिचय: ।

Praising of heterodox teachers and intimacy witn heterodox teachers, In yog 11, 17, mithya-dristi prashansanam The Word 'पाखण्ड' has with the Jains, no bad sense. It means generally the adherent of any religion especially of their own house with the Brahmns, It Came to mean 'an adherent of a false or heterodox religion, with them पाखण्ड is equal to the jains परपाखण्ड See also Bhag P. P. 2/3/2/4/and Ind. St. Val XVII P. 75.

पाखण्ड शब्द प्राचीन बौद्ध साहित्य में और जैनागमों में मिलता है और उसका मूल अर्थ है—किसी प्रकार का मत। अपने मत में स्थिर होकर रहने से ही मनुष्य की मानसिक स्थिरता टिक सकती है और श्रद्धा में विचलितता नहीं आती। जान पड़ता है इसी आशय से परपाखण्ड की प्रशंसा का निषेध किया गया है।

साधारण मनुष्य से अगर 'पाखण्डधर्म' का अर्थ पूछा जाय तो वह एकाएक विचार में पड़ जायगा। वह सोचेगा- 'पाखण्ड' धर्म कैसे हो सकता ? और धर्म पाखण्ड कैसे हो सकता ?

पाखण्ड शब्द का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है। शिलाखण्ड में यह भी कहा गया है कि—

किसी भी मनुष्य को किसी के 'पाखण्ड' की निन्दा करके उसे दुःखी नहीं करना चाहिये, ऐसी महाराज अशोक की आज्ञा है।

गीता में भी कहा है :—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह :।

अर्थात् स्वधर्म में स्थिर रहते हुए मर जाना अच्छा है पर धर्म भयानक होता है।

एक व्यक्ति जवाहरात का धन्धा करता है। उसे उसमें दिलचस्पी है, कमाई है। अगर वह अपने पुत्र को इस धन्धे में निपुण बनाना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह

अपने पुत्र के सामने किसी दूसरे व्यवसाय की प्रशंसा न करें। ऐसा करने से वह भी जवाहरात के व्यवसाय में निपुण हो जायगा और दिलचस्पी लेने लगेगा। अन्यथा अस्थिर-चित्त होकर असफल रहेगा।

पर-पाखण्ड शब्द का अर्थ यह नहीं है कि किसी को मिथ्यातत्वो कहना अथवा उसकी निन्दा करना, वरन् परम्परागत सदाचार का पालन करना, उसी में बुद्धिपूर्वक अनुरक्त रहना, उसका लापरवाही से त्याग न करना। हाँ, अगर परम्परागत आचार, सदाचार न होकर दुराचार हो तो उसे उसी समय त्याग देना चाहिये।

मगर इसमें साधारण आदमी का कोई दोष नहीं है, योंकि साधारण व्यवहार में, बोलचाल में 'पाखण्ड' शब्द, भ के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। फिर भी शास्त्रीय भाषा ं 'पाखण्ड' व्रत पालन या दृढ़ निश्चय अर्थ में व्यवहृत कया गया है।

पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। उसका अर्थ दंभ भी ी है और व्रत भी है।

श्री दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन को (निर्युक्ति 53 कीं) टीका में 'पाखण्ड' शब्द अर्थ 'व्रत' किया गया है। ल्लेख इस प्रकार है:—

पाखण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि।
स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः॥

अर्थात्—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। व्रत जिसका निर्मल

मगर पाखण्ड शब्द का अर्थ सभी जगह 'दंभ-कपट' रना शास्त्रसम्मत नहीं है। पापों का नाश करने वाला त भी पाखण्ड कहलाता है। जैन शास्त्र में ऐसा उल्लेख मलता है।

स्थानांगसूत्र में पाखण्डधर्म का उल्लेख मिलता है, नसमें व्रतधारियों का धर्म भी प्रतिपादित किया गया है।

प्रश्नव्याकरण-सूत्र के द्वितीय संवरद्वार में भी इस ब्द का प्रयोग पाया जाता हैः—

'अणेगपाखंडिपरिग्गहियं।' ❀

अर्थात् अनेक व्रतधारियों द्वारा स्वीकार किया हुआ त पाखण्ड कहलाता है। जिन्होंने उस व्रत को अंगीकार कया हो वे पाखण्डी कहलाते हैं। इन पाखण्डियों अर्थात् तधारियों के द्वारा सत्यव्रत ग्रहण किया गया है अतएव ह 'अनेकपाखण्डीपरिगृहीत' कहलाता है।

पाखण्ड शब्द का अर्थ सिर्फ 'दम्भ' होता तो श्रवण विशेषण के रूप में 'पाखण्डी शब्द का प्रयोग नहीं किया ाता।

श्री दशवैकालिक सूत्र में 'समण-श्रमण' शब्द की याख्या करते हुए 'पाखण्डो शब्द व्रतधारी' अर्थ में प्रयुक्त कया गया है।

गाथा यह हैः—

ीका-❀अनेकपाखंडिपरिगृहीतं-नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृतम्।

अर्थात् गृहस्थ-अवस्था में रहकर भी जो पुरुष सुव्रत
। पालन करता है वह सुव्रती* कहलाता है ।

---

*आदर्श गृहस्थाश्रम की मर्यादा में रह कर धर्म के
यमों का समुचित रूप से पालन किया जाय तो आगे
ाकर वह त्यागी गृहस्थ आदर्श त्यागी जीवन व्यतीत करके
र्मपुत्र केवली के समान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता
। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को निभाते हुए त्यागी
ीवन बिताना सरल नहीं है । ऐसा करना तलवार की
ार पर चलना है । इस दृष्टि से पाप-श्रमणों की अपेक्षा
ागमय जीवन यापन करने वाले सुश्रावक सुव्रती होते हैं ।
ाधुता प्रकट करने की पहली मंजिल ।

धैर्य, क्षमा, सद्भाव आदि सद्गुणों का सेवन करना
ो एक प्रकार का सुव्रत है कहा भी है—

'सत्पुरुषाः धृतसुव्रताः'

अर्थात्—सज्जन-सत्पुरुष धैर्य आदि सद्गुणों का सेवन
रते हैं-सुव्रती कहलाते हैं ।

विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े, खाने पीने के फाके
ड़ते हों, तब भी जो धीर-वीर पुरुष अपनी उदार प्रकृति
ो स्थिर रखता हुआ, अपने सदाचार से तिल भर भी
हीं डिगता, वह सच्चा सुव्रती कहलाता है । जहां सुव्रतियों
ी संख्या जितनी अधिक होती है, वह ग्राम, नगर और
श, उतना ही सुरक्षित रहता है । सुव्रतियों के सदाचार
पी प्रबल बल की अपेक्षा शत्रुओं का दल-बल निर्बल व

निस्तेज बन जाता है ।

नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्,
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयञ्च महताम् ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥

आपत्ति आने पर भी अपना मस्तक ऊंचा रखना महान् पुरुषों के चरण चिह्नों पर चलना, न्याययुक्त आजीविका में अनुराग रखना, प्राण जाने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी पाप कर्म में प्रवृत्त होना, दुर्जनों से किसी वस्तु की याचना न करना, निर्धन मित्रों के सामने हाथ फैलाना, यह असिधारा-व्रत (तलवार की धार पर चलने के समान कठोर व्रत सज्जनों को किसने सिखाया है अर्थात् यह सद्गुण सज्जन पुरुषों में स्वाभाविक ही पाये जाते हैं ।

जब ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म, इन तीन धर्मों का यथोचित पालन होता है तब व्रत रूपी पाखण्ड धर्म का उदय स्वतः हो जाता है और पाखण्डधर्म के उदय से धर्मशील मनुष्यों में रही हुई शक्ति और स्फूर्ति का विकास होता है । शक्ति और स्फूर्ति का विकास होने पर धर्मप्रिय व्यक्ति कठिन व्रतधर्म का भी पालन कर सकता है और अपनी धर्मप्रियता का जगत को परिचय देकर जन समाज के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित कर सकता है। ऐसे व्रतधारी कष्टों और संकटों के आने पर मेरु पर्वत के समान

निष्कंप-अटल बने रहते हैं । प्राण जाते हों तो भले ही चले जायें, परन्तु धर्म न जाए, इस प्रकार सुदृढ़ संकल्प करने वाला और उस पर अडिग रहने वाला धीर पुरुष सच्चा व्रतधारी है । ऐसे सुव्रती के सदाचार के प्रसाद से देश, समाज और धर्म उत्पन्न बनते हैं ।

महापुरुषों ने धर्म की जो मर्यादा की है, उस मर्यादा का घोर संकट के समय भी उल्लंघन न करना व्रतधारी का महान्-व्रत है ।

"न्यायवृत्ति रखना और प्रामाणिक रहना" यह सुव्रतियों का मुद्रालेख हैं । यह मुद्रालेख उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है । सुव्रत अन्याय के खिलाफ अलख जगाता है । वह न स्वयं अन्याय करता है और न सामने होने वाले अन्याय को बैठकर टुकुर-टुकुर देख सकता है । वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध रहता है । अन्याय का प्रतिकार करने में वह अपने प्राणों को हंसते हंसते निछावर कर देता है । वह समाज और देश के चरणों में अपने जीवन का बलिदान देकर भी न्याय की रक्षा करता है । सुव्रतियों का सुव्रत ऐसा कठोर होता है ।

पर आजकल के व्रतधारी कहलाने वालों की मनोदशा एकदम विपरीत जान पड़ती है । आज तो ऐसी दशा है कि फूटी कौड़ी के लिए, अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए, सत्य को असत्य, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म कहते हुए भी अनेक व्रतधारी कहलाने वाले, तनिक भी नहीं झिझकते । पर उन्हें इतना जान लेना चाहिए कि नाम से व्रतधारी होने से कुछ बनता नहीं है । व्रतधारी

बनना तलवार की धार पर चलना है।

आज धर्म-अधर्म का विवेक नष्ट प्रायः हो रहा है इसी कारण जैनसमाज में ऐसी मिथ्या धारणा घुस गई है कि जितनी देर सामायिक में बैठा जाय, बस उतना ही समय धर्म में व्यतीत करना आवश्यक है। समायिक समाप्त की, दूकान पर पैर रक्खा और धर्म भी समाप्त हुआ। दूकान पर तो पाप ही पाप करना होता है। वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सामायिक में बैठ जाने मात्र से धर्म नहीं होता। रात-दिन की शुभा शुभ प्रवृत्तियां से पुण्य-पाप का हिसाब होता है।

फिर सामायिक में भी शुद्ध धर्मक्रिया कहां की जाती है ? बहुत बार सामायिक के समय भी चुगली, परनिन्दा, क्रोध आदि दुष्ट मनोवृत्तियों का सेवन करके, पुण्योपार्जन के बदले पाप की कमाई की जाती है। सामायिक, समभाव सीखने का अमोघ और अतिशय प्रशस्त साधन है। समभाव सीखने के बदले, अगर सामायिक में भी निन्दा-विकथा क्रोध लोभ आदि विभावों का मैल सचित किया तो सामायिक व्रत का पालन नहीं हो सकता। व्रत का उचित रूप से पालन न होने से शुभ परिणाम के बदले प्रायः अशुभ परिणाम होता है। सामायिक जैसा पालन व्रत समभाव का पोषक लौर आत्मोन्नति का साधन होना चाहिए। ऐसा करने में ही व्रतधारी की शोभा है।

सामायिक व्रत का दुरुपयोग करने के बदले अगर सदुपयोग किया जाय तो अपने घर में, समाज में, देश में सदैव उठ खड़े होने वाले अनेक रगड़े—झगड़े और क्लेश

ने आप ही समाप्त हो सकते हैं। इतना ही नहीं, सामायिकव्रत का पालन करने से कचहरी में जाकर अनेक सच्चे दाव खेलने के प्रपंच भी निश्चित रुप से नष्ट सकते हैं। धर्मशास्त्र एक प्रकार का आध्यात्मिक 'पिनल ड' है। धर्मसूत्रों के धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक यदे-कानून इतने सुन्दर और न्याय संगत है कि अगर निर्दोष भाव से उनका अनुकरण करें तो देश, समाज कुटुम्ब से घुसे हुए अनेक प्रकार के पारस्परिक वैर भाव तः शान्त हो सकते हैं। मगर धर्म शास्त्रों के कानूनों पालन न करना सामान्य जनता के लिए सरल नहीं है। पुरुष सुव्रती हैं, जिनकी आत्मा धर्म के रंग में रंगी है, वही धर्मवीर, धर्मव्रत का भलीभाँति पालन कर ते हैं।

सच्चा व्रतधारी, सधर्मी पुरुष, प्राणों का नाश होने भी धर्म का नाश नहीं होने देता।

दृढ़ता पूर्वक धर्म का पालन किस प्रकार किया जाता इस प्रश्न का अच्छा उत्तर सुदर्शन श्रावक के जीवन रित्र से मिलता है।

सुदर्शन श्रावक ने शूली पर चढ़कर प्रसन्नता पूर्वक णोत्सर्ग करना स्वीकार किया पर अभया रानी की र्थना स्वीकार नहीं की। क्या उसे अपने प्राण प्यारे नहीं ? हम इस प्रश्न का उत्तर दें, उससे पहले ही सुदर्शन की आत्मा बोल उठेगी—'मुझे प्राण प्यारे थे, पर धर्म णों से भी अधिक प्यारा था। मेरी अन्तरात्मा परीक्षा के ए प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा प्रदान करती थी।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण व्रतपालन की कठिन: और महत्ता समझाता है। वरुण नामक, बारह व्रतों : करने वाला एक श्रावक राज्याधिकारी था। वह व्रतपा के साथ ही साथ अपने कर्त्तव्य के अनुसार राज्यकार्य-सं लन भी करता था।

एक बार किसी राजा ने वरुण के स्वामी राजा प अचानक हमला बोल दिया। राजा ने अपने राज्याधिकारि को शस्त्रास्त्र से सेना सजाने की आज्ञा दी।

सेना तैयार हुई। अधिकारी गण सेना के साथ चले ना युद्ध भूमि में आ डटो।

दोनों तरफ की सेनाओं का आमना-सामना हु और थोड़ी ही देर में घोर संग्राम छिड़ गया। आ में शस्त्रों का प्रहार होने लगा। वरुण को भी युद्ध में सम्मि लित होने का आदेश दिया गया। वरुण ने कहा—

जो कोई अत्याचारी अन्यायी मुझ पर शस्त्र उठाए में भी उसके विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करूँगा। अलबत निरपराध जीवो को न मारने की मेरी प्रतिज्ञा है। अपने प्राणों का खतरा उठा करके भी प्रतिज्ञा का पाल करूँगा। युद्ध में सम्मिलित होने के राजकीय आदेश शिरोधाय करना मेरा पहला कर्त्तव्य है, साथ ही निरपराध पर हाथ न उठाने की प्रतिज्ञा का पालन करना ही मेर कर्त्तव्य है।

वरुण युद्ध में शामिल हुआ। अन्त में सनसनाता हु एक तीर आया और वरुण के हृदय में बिंध गया। वरु

ी समय जमीन पर गिर गया। अपराधि को अपराध के बदले दण्ड देने में व्रत भंग नहीं होता, यह जानकर ाने संभल कर हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये और एक जैन र की भांति अपने व्रत को रक्षा करता हुआ दिलोजान लड़ा। उसने राजाज्ञा और व्रत प्रतिज्ञा दोनों का पालन :के अपने पवित्र कर्त्तव्य का निर्वाह किया। राष्ट्ररक्षा और ा-प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए, अपने प्राणों का बलिदान ार वीर वरुण मृत्यु का आलिगन करके अमर बन गया। ❀

शास्त्र में वर्णित यह दृष्टान्त क्या शिक्षा देता है? ्ी कि अशाश्वत शरीर की रक्षा के निमित शाश्वत धर्म नाश मत करो। मनुजी का यह धर्म सूत्र हमें धर्म-रक्षा कर्त्तव्य समझाता है:—

धर्म एव हतो हन्ति,
धर्मो रक्षति रक्षितः।

अर्थात् अगर हम धर्म का नाश करेंगे तो धर्म हमारा ाश करेगा और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म ारी रक्षा करेगा।

धर्म पालन करना कितना कठिन है, इस बात को मझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण और लीजिये।

जोधपुर के राठौड़ वीर दुर्गादास का नाम शायद ही ासी ने न सुना हो। वह एक सच्चा राजपूत नर-वीर ा। वह दृढ़ धर्मी और स्वामीभक्त सेवक था।

❀ देखो भगवती सूत्र।

एक बार दुर्गादास औरंगजेब बादशाह के पंजे में प
गया। वहां बादशाह की बेगम गुलनार इस नर वीर क
तेज देखकर पागल हो गई। वह दुर्गादास के पास एकान्त
में मिलने आई और अपने आपको अपनाने के लिए प्रार्थना
करने लगी। उसने दुर्गादास को कई प्रलोभन भी दिये
वह कहने लगी:- हे नर-वीर! अगर तुम मेरी प्रार्थना
स्वीकार करलो तो मैं आज ही इस बादशाह का काम
तमाम करके तुम्हें दिल्ली का सम्राट बना दूंगी।

दुर्गादास- बेगम की प्रार्थना सुनकर अवाक् रह गया
वह सोचने लगा-बेगम यह क्या कह रही है?

दुर्गादास दृढ़ धर्मी था। वह नर-वीर था। उस
सिर्फ इतना ही कहा— 'मां, तुम यह क्या कह रही हो
तुम मेरी माता हो। बेगम 'मां, शब्द सुनते ही आग बबूल
हो गई। उसने कहा—दुर्गादास! जरा होश में आओ। 'म
शब्द बोलते जरा तो विचार करो, पुनः सोचलो। बि
विचारे कोई शब्द मत कहना।

अब दुर्गादास चुप था। वह समझता है मैंने ज
कुछ भी कहा है, उसमें बिना विचारा एक भी शब्द न
है। उसे अपने शब्दों पर पूरा-पूरा विश्वास था। वह स्व
निर्भय था। उसे किसी का भय नहीं था। प्राणों का भ
भय नहीं था। भय था तो सिर्फ पाप का अतएव जब बेग
कह चुकी तो दुर्गादास ने कहा मां, मैं जो कुछ भी कह र
हूं। जान पड़ता है कि तुम स्वयं बे भान हो रही हो?

बेगम गुलनार को दुर्गादास के ये शब्द ऐसे मालु

ए जैसे तीखा तीर हृदय में चुभ रहा हो । वह नागिन
की भांति फुफकार उठी । बोली—'जानते हो, मेरे वचनों
की अवहेलना करने वाले की क्या दुर्गती होती है । अच्छी
तरह समझ लो, मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वालों का
इस तलवार का शिकार होना पड़ता है । खूब समझ-
बूझलो और अन्तिम निर्णय करलो । एक ओर तो दिल्ली
का रत्नजड़ित सिंहासन हिन्दुस्तान की बादशाहत और
गुलनार है, तथा दूसरी ओर यह लपलपाति तलवार है ।
बोलो क्या इरादा है ?

गुलनार आगे कुछ और कहना ही चाहती थी कि
इतने में ही दुर्गादास निर्भय सिंह की तरह गरज उठा—
मां मैं तुम्हारे मुख से इस प्रकार के गन्दे शब्द सुनना नहीं
चाहता । मेरा प्राण सदाचार की बलिवेदी पर चढ़ने के
लिए तड़फ रहा है । मुझे प्राणों की परवाह नहीं है ।
मुझे सदाचार की चिन्ता है । मैं प्राणों की अपेक्षा
सदाचार को अधिक प्यार करता हूं ।

दुर्गादास का यह सदाचार धर्म हमारे सामने क्या
आदर्श उपस्थित करता है ? वह सदाचार की महिमा का
प्रकाश करता है । सदाचार-धर्म ही मनुष्य का सच्चा
मित्र है । इस सच्चे मित्र को जिस दिन तुम अवगणना
करोगे उसी दिन से तुम्हारा धार्मिक जीवन का अधःपतन
आरम्भ हो जायेगा, यह निश्चित समझ लेना !

अगर तुम अपना जीवन सफल बनाना चाहते हो तो
व्रत पालन में दृढ़ रहना । जिस व्रत को अंगीकार करलो
उससे चिपटे रहो । उसे पूर्ण रूप से निभाने के लिए सतत

प्रयास करो।

कुछ लोग कहते हैं-व्रत सम्बन्धी प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकतता हो क्या है ? उन्हें समझना चाहिए कि व्रत-पालन की प्रतिज्ञा संकट के समय एक सबल मित्र के समानं साथ देती है। प्रतिज्ञा अघःपतन से बचाती है और धर्म का सच्चा मार्ग बताती है। महात्माजी (गांधीजी) आज महात्मा बन सके इसका अधिकांश श्रेय उनको माताजी द्वारा दी हुई प्रतिज्ञा को प्राप्त है। उसी प्रतिज्ञा की बदौलत आज महात्माजी महान् बन सके हैं। संकट के समय व्रत पालन का स्मरण कराने वाली व्रत पालन के लिए वारम्वार प्रेषित करने वाली और प्रलोभनों, सयम व समय का मर्म समझाने वाली प्रतिज्ञा ही है। प्रतिज्ञा हमारा सच्चा मित्र है। ऐसे सच्चे मित्र की अवहेलना कैसे की जा सकती है ?

व्रत के विषय में अब तक जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाखण्ड का अर्थ व्रत है, और लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मव्रत को अंगीकार करने वाला "पाखण्डी" (व्रती) कहलाता है।

ग्राम धर्म, नगरधर्म, तथा राष्ट्रधर्म को जीवन में मूर्तिमान रूप देने के लिए व्रत-धर्म को अंगीकार करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के बाद पाखण्ड धर्म का वर्णन किया गया है।

[५]

कुल धर्म

[कुल धम्मे]

※ ❀ ※

वसे गुरुकुले णिच्चं

आज लोग कुलधर्म–कुलीनता को भूल कर केवल कुल
ाद से चिपट कर ऊंच–नीच की व्याख्या करते हैं । इस
कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था
फैल रही है । कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता-
नीचता तोली जायेगी उसी दिन लोगों की भ्रान्ति भाग
जायेगी । उस समय यह स्पष्ट होगा कि यह संकीर्ण जाति-
वाद समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श ।

संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता और धर्मशीलता
के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचार किया जा चुका।
अब यह विचार करना है कि इन सब सद्गुणों का विकास
मानव समाज में कब किस प्रकार होता है ? जरा गहराई
से विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि
उपर्युक्त सद्गुणों का उद्भव–स्थान गृह संस्कार हैं ।
माता–पिता के सद्व्यवहार से गृह–संस्कार सुधरते हैं ।
यही गृह संस्कार सुधरते-सुधरते कुटुम्ब संस्कार का रूप

धारण करते हैं और जब उन कौटुम्बिक संस्कारों का क्षेत्र कुछ विस्तीर्ण होता है तब वे संस्कार सम्पूर्ण कुल के संस्कार बन जाते हैं। इस प्रकार कुल के संस्कार, गृह और कुटुम्ब के संस्कारों में से घड़े हुए विस्तीर्ण संस्कार मात्र है।

कुल की संस्कृति से जिस कुलीनता का उद्भव होता है, वही कुलीनता मानव-समाज में सुख-शान्ति का बीजारोपण करती है कुल के आचार-विचार विकसित होते-होते जाति के आचार विचार बनते हैं। जाति के आचार-विचार संघ के आचार विचार के रूप में परिणत हो जाते हैं और संघ के आचार-विचार का प्रभाव समुचे राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

भली भांति बिचार करो तो जान पड़ेगा कि मानव समाज की सुख-शान्ति को वृद्धि करने में कुलधर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज विश्वशान्ति खतरे में पड़ी हुई है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण कुलधर्म की अवहेलना भी हैं।

कुल-धर्म क्या है ? कुलधर्म मानव समाज का कितना कल्याण-साधन कर सकता है ? कुलधर्म के पुनरुद्धार से समाज, धर्म और राष्ट्र का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ? इन प्रश्नों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

परिजनों का समूह कुल कहलाता है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है। परिजनों के समूह का आचार-विचार कुलाचार

कहलाता है।

जिस आचार-विचार, व्यवहार और कार्यपद्धति से कुल की प्रतिष्ठा खानदानी, मानमर्यादा बढ़ती है, कुल ऊँचा उठता है, अर्थात् कुल में 'कुलीनत" आती है, वह आचार-विचार, व्यवहार और कार्य पद्धति "कुलधर्म" है।

कुल का क्षेत्र काफी विस्तीर्ण है। कुल की मर्यादा में कुटुम्ब का और घर की मर्यादा का समावेश हो जाता है।

कुल के संस्कारों को विशुद्ध बनाने के लिए सबसे पहले घर के और कुटुम्ब के संस्कार सुधारने की आवश्यकता होती है, क्योंकि घर संस्कृति सृजन करने को सजीव शाला है। नन्हें-नन्हें बालक उस शाला के शिष्य हैं और माता पिता उनके शिक्षक हैं!

ज्यों-ज्यों बालक की संस्कृति का क्षेत्र बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके गृहसंस्कार, कुटुम्ब संस्कार के रूप में परिणित होते जाते हैं। बालक जब थोड़ा बड़ा होता है, तब वह घर का आंगन छोड़कर कुटुम्ब के आंगन में पैर धरता है और वहाँ के संस्कार ग्रह करता है। अपने अपने घर में ही मिले हुए संस्कारों को और पड़ोसी कुटुम्बी के घर में मिले हुए संस्कारों का बालक में समिश्रण होता रहता है। पर जैसे-जैसे बालक की बुद्धि का विकास होता जाता है, वह गृहसंस्कारों और कुटुम्ब-संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में मुख्य रूप से भाग लेते हैं।

बालक जब कुछ और बड़ा होता है तब वह घर

और कुटुम्ब का भी आँगन छोड़कर गलियों में खेलना सीखता है और फिर गलियों में से कुल के घरों तक जा पहुंचता है। वहाँ उसे नवीन संस्कार मिलते हैं। और वह उन्हें अपनाता जाता है। अन्त में वह कुलधर्म को समझने लगता है और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न भी करता है।

जब बालक की बुद्धि कुलधर्म को समझाने के योग्य परिपक्व होती है, वह यह भी समझने लगता है कि उसका कुलधर्म मुख्य रूप से दो भागों में बंटा हुआ है। एक कुल धर्म लौकिक है, जो माता पिता सगे-सम्बन्धी तथा अन्य गुरुजनों की आज्ञा पालन करते हुए वंशवृद्धि का, वंश के पालन का, वंश की व्यवस्था का और लोक जीवन की समुचित शिक्षा–दीक्षा का उपदेश देता है। दूसरा कुलधर्म लोकोत्तर है, जो लोक जीवन को सफल बनाने का उपदेश देकर मुक्तिमार्ग को ओर अग्रसर होने की शिक्षा देता हैं।

लौकिक कुलधर्म और लोकोत्तर कुलधर्म, दोनों की शिक्षा दीक्षा देने की प्रणालो भले ही भिन्न जान पड़ती हो, मगर दोनों का आदर्श एक ही है मानव समाज में शाश्वत सुख शान्ति की स्थापना करना। लौकिक कुलधर्म इस आदर्श पर पहुंचने के लिए शुभ प्रवृत्ति मार्ग का विधान करता है और लोकोत्तर कुलधर्म शुभ निवृत्ति मार्ग का। और यह प्रवृत्ति ही धर्म का परिपूर्ण रूप है।

शाश्वत सुख–शान्ति प्राप्त करने के कुलधर्म के मूल आदर्श को प्राप्त करने के लिए निवृत्तिमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा अधिक सीधा है, परन्तु आचरण में वह कठीन है।

जबकि प्रवृत्तिमार्ग विकृत होने पर भी सुगम है।

साधारण मनुष्यों के लिए निवृत्तिमार्ग सरल नहीं है। यह मार्ग उन मुनि महात्माओं के लिए है जो सांसरिक भोग तृष्णा से विमुख होकर केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहते हैं। और यह शुभ प्रवृत्ति के चक्करदार मार्ग से जाने वाले बहुत हैं। उनमें से जो लोग कुलधर्म के ध्येय के अनुमार सदाचार और सद्विचार (सूत्र-चरित्र धर्म) का सेवन करेंगे वे धीरे-धीरे निवृत्ति मार्ग द्वारा मोक्षमार्ग में पहुंच सकेंगे।

लौकोत्तर कुलधर्म के मार्ग पर चलने वालों को भी लौकोत्तर गुरु की पाठशाला में समभाव, सहिष्णुता सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र आदि की विधिपूर्वक दीक्षा लेनी पड़ती है। गुरु के समीप समुचित रूप से शिक्षा दीक्षा लेने वाला मोक्षार्थी शिष्य लौकोत्तर कुलधर्म का पालन कर सकता है और शनैः शनैः अन्त में मुक्ति लाभ कर सकता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि निवृत्तिमार्ग पर चलकर सूत्र-चारित्र धर्म का आराधना करना ही धर्म है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तिमार्ग है। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। जो ऐसी मान्यता मानते है उनसे पूछना चाहिए कि सत्यवृत्ति द्वारा कुल के आदर्श उन्नत बनाना भी क्या पाप है? अगर कुल का आदर्श उन्नत बनाना पापमय प्रवृत्ति है तो कुल को अधोगति में गिराना क्या धर्म है?

लौकिक कुलधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करना

सरल नहीं है। सच्ची कुलीनता प्राप्त करने के लिए निरन्त
अध्यवसाय करने की आवश्यकता रहती है। प्राण भले ही
जले जाएँ, मगर सच्चा कुलधर्मी अपने पूर्वजों से प्रा
सद्व्यवहार का त्याग नहीं कर सकता। कुलधर्मी भूखा मर
जायगा, परन्तु पेट की आग बुझाने के लिए वह चोरी य
असत्य का आचरण करना वज्रपात के समान दुःख मानेगा।

राणा प्रताप ने केवल कुलधर्म की रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक अनेक दुःखों की परम्परा स्वीकार की थी। उन्होंने अपना वंश चलते अपने कुल की स्वतन्त्रता नहीं बिकने दी। मनुष्य की कुलीनता की कसौटी दुःख के प्रसंग पर ही होती है। जो पुरुष संकट के समय अपनी कुलीनता की रक्षा करता है वही कुलधर्म का पालन करके 'कुलीन' बनता है

आज सर्व साधारण में यह मान्यता प्रचलित हो गई है कि उच्च कहलाने वाले कुल में जन्म लेने से ही कुलीनता आ जाती है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मनुष्य की कुलीनता उसकी कुलमर्यादा के अनुसार सत्प्रवृत्तियों पर अवलंबित है।

भगवान् महावीर ने जातिवाद के बदले गुणवाद को बहुत महत्व दिया है * शास्त्र में कहा है—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वेइसो होई, कम्मुणा होइ सुद्दओ॥

अर्थात्—कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

---

* जातिवाद और गुणवाद में युग-युगान्तर से तीव्र संघर्ष होता

वास्तव में कोई मनुष्य उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से उच्च नहीं हो जाता। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई नीच नहीं होता। उच्चता और नीचता मनुष्य की अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों पर अवलंबित है। मनुष्य सत्यप्रवृत्ति के द्वारा अपना चरित्र उच्च बनाएगा तो वह उच्च बन सकेगा। जो दुष्प्रवृत्ति करेगा वह नीच कुल में जन्म लेने पर भी सत्यप्रवृत्ति करने वाला पुरुष उच्च बन सकता है। नीच कुल में जन्म लेकर सत्यप्रवृत्ति द्वारा ऊंचे दर्जे के महात्मा बने हुए हरिकेशी और मातंग जैसे धर्मगुरुओं का बखान धर्मशास्त्रों में पाया जाता है।

आज कुलीनता के आधार पर ऊंच नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य का विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञान होगा कि जातिवाद, समाज की एक बड़ी भारी बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है। इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने गुण-

---

ाया है। जातिवाद को बर्बाद करने के लिए गुणवाद ने और गुणवाद कोमटियामेट करने के लिए जातिवाद ने अपना बल आजमाया है। मगर मानव शक्ति के मुकाबिले पाशव शक्ति सदा ही परास्त हुई। गुणवाद का प्रचार करने के लिए भगवान् महावीर महात्मा बुद्ध तथा अनेक महर्षियों ने प्रबल प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा उपदिष्ट थी आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों में धम्मपद और सुत्तनिपात, संयुक्तनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में तथा भगवद् गीता, उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में गुणवाद से सम्बन्ध रखने वाली प्रचुर सामग्री आज भी उपलब्ध होती है।

वाद का आदर्श जगत् के सामने प्रस्तुत करके जातिवाद की बुराई दूर करने का अथक प्रयास किया था। उन्होंने गुणवाद द्वारा-मानव जोवन के विकास द्वारा, विश्वशान्ति का सदेश जगत को सुनाया था। भगवान् महावीर का वह दिव्य संदेश आज हम लोगों को फिर से एक बार सुनने की आवश्यकता है। अगर हम उस दिव्य संदेश को सुनें और समझ सकें तो देश में आज ऊंच-नीच की स्पृश्य अस्पृश्य की जो जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है उसका सहज ही समाधान हो सकता है।

आज लोग कुलधर्म-कुलीनता को भूलकर केवल 'कुल' से चिपट कर ऊंच-नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता-नीचता तोली जायेगी उसी दिन लोगों को भ्रान्ति भाग जायेगी। उस समय साफ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

कुलीनता धर्मसाधन का एक अंग है। जब तक मनुष्य अपने कुलधर्म का भलीभांति पालन न करे तब तक वह श्रुत-चारित्रधर्म और आत्मिक धर्म का आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। श्रुत चारित्रधर्म का आधार कुलधर्म है। जहां कुलधर्म न होगा वहां आत्मिक धर्म कैसे रह सकता है ?

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कुलधर्म सांसारिक कर्त्तव्य की शिक्षा देता है, ऐसी स्थिति में उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है ? यह तर्क भ्रमपूर्ण है। तर्क

रने वाले को जानना चाहिए कि कुल धर्म जैसे लौकिक-
र्म की शिक्षा देता है, उसी प्रकार लोकोत्तर धर्म का
ाधार लौकिक धर्म है। अतएव अगर लौकिक धर्म व्य-
स्थित रूप से नहीं चले तो लोकोत्तर धर्म भी खतरे में
ड़ जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने लौकिक और
ोकोत्तर धर्म का सम्बन्ध किया है। श्राविका लौकिक
र्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और साधु तथा साध्वी
ोकोत्तर धर्म का चतुर्विध संघ के यह चार प्रतिनिधि
ापस की सहमति पूर्वक सम्बन्ध न रक्खें तो जैनधर्म
ोखिम में पड़ जाय। भगवान् महावीर के द्वारा की हुई
घशासन की योजना इतनी सुन्दर और व्यवस्थित है कि
सी योजना के कारण आज जिन शासन निर्विघ्न रूप से
वर्त्त रहा है।

लौकिक धर्म के प्रतिनिधियों—श्रावक श्राविकाओं
ो लौकिक धर्म का यथावत् पालन करना चाहिए और
ोकोत्तर धर्म के प्रतिनिधियों—साध्वियों को—लाकोत्तर
र्म का यथायोग्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार भग-
ान् के अनुयायी जब लौकिक और लोकोत्तर कुल धर्म का
लाभांति पालन करेंगे तब भगवान के ही शब्दों में
जाइसम्पन्ने'—जातिसम्पन्न और 'कुल-सम्पन्ने' अर्थात् कुल
म्पन्न बनेंगे। तभी कुलीनता रूप धर्मगुण प्रकट होगा।
ही धर्मगुण समाज और देश में सुख शान्ति का बीजा-
ोपण करेगा।



[६]

गण धर्म

(गण धम्मे)



गणतन्त्र, प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हमारे अन्दर अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक वल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलाँजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसका सामर्थ्य हैं जो हमें अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के अधिकार या उपयोग से वंचित कर सके ? गणधर्म में जो असीमं शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व के सूर्य की भांति चमक उठे।

गण अर्थात् समूह। गण का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे, उसे कहते हैं गणतन्त्र। सबल के द्वारा निर्बल का सताया जाना या इसी प्रकार को कोई दूसरा अत्याचार गणतन्त्र कभी सहन नहीं कर सकता। निर्बल की सहायता करना, निर्बल को न्याय दिलाने के लिए सर्वस्व का भोग

ना पड़े तो भी पैर पीछे न देना, यह गणधर्म पालने ालों का महान् व्रत होता है।

गणतन्त्र को यह व्यवस्था आधुनिक प्रजासत्तात्मक ाज्य प्रणाली से तनिक भी उतरती श्रणी की नहीं थी। ानधर्म में नवलिज्छी और नवमली जाति के अठारह गण ाज्यों का गणतन्त्र इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अठारह गणराज्यों ा वह गणतन्त्र सबलों द्वारा सताई जाने वाली निर्बल प्रजा ो पीड़ा से मुक्त कराने के लिए और उनकी सुख-शान्ति ो व्यवस्था करने के लिए तन, मन, धन का व्यव करने ; नहीं झिझकता था। असहायों की सहायता करने में ही ौरव मानता था।

गणतन्त्र की इस पद्धति में गणधर्म का पालन करने ाली प्रजा को कितना सहना पड़ता था उसका इतिहास-ासिद्ध उल्लेख * जैन-शास्त्रों में मिलता है।

कहते हैं, जब बड़े भाई कोणिक को मगध का महाराज्य मला तो विहल्लकुमार-कोणिक का छोटा भाई अपने माता-ाजा चेटक के पास आकर रहने लगा। राजा कोणिक ने ाशाली में जा बसने वाले विहल्लकुमार से हाथी औ हार की ांग की। मगध सम्राट कोणिक को हाथी और हार माँगने ा कोई अधिकार नहीं था। कोणिक को मगध का राज-सहासन मिला था और अन्य भाइयों को भी अपना अपना हिस्सा मिला था। पर कोणिक को अपनी सत्ता और शक्ति ा मद था। विहल्लकुमार जहां आकर टिका था वहाँ

* देखो श्री निरावलिका तथा भगवती सूत्र।

गणतन्त्र की सहायता से राज्य व्यवस्था होती थी। वैश
के गणतन्त्र के संचालक राजा चेटक थे। जब चेटक
कोणिक के अन्याय का पता चला तो उसने अठारह रा
को एकत्र किया और कोणिक के अत्याचार का स
करने की सलाह दी। उसने कहा—

'जैसे विहल्लकुमार के अन्य ग्यारह भाइयों को रा
में से हिस्सा मिला है उसी प्रकार विहल्लकुमार को उ
माता-पिता की ओर से यह हार और हाथी मिला है
वस्तुओं पर कोणिक का कुछ भी अधिकार नहीं है। कोणि
अन्याय पूर्वक, अपनी सत्ता के मद में चूर होकर विहल्लकुम
को दबाना चाहता है।

गणतन्त्र के अठारहों राजाओं ने कोणिक के अत्या
के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। यह भी निर्णय हु
कि अगर युद्ध करने का अवसर आवे तो गणतन्त्र के सम
स्त राजा एक साथ मिलकर चेटक की सहायता करेंगे।
घटना से सहज ही समझा जा सकता है कि गणतन्त्रों
अथवा प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था में प्रजा के सिर प
गम्भीर उत्तरदायित्व होता है। विहल्लकुमार सिर्फ राजा चेट
का भनेज (भागिनेय) था उसके साथ अन्य राजाओं क
कोई नातेदारी नहीं थी। फिर भी उन्होंने अन्याय अत्याचा
के विरुद्ध युद्ध करने का और विहल्लकुमार को अत्याचा
से बचाने का निश्चय किया।

जो प्रजा अन्याय और अत्याचार का अपने पूरे ब
के साथ सामना नहीं कर सकती अथवा जो अपने तुच्

ार्थों में ही संलग्न रहती है, वह प्रजा इस प्रकार के लिए पनी योग्यता साबित नहीं कर सकती।

गणतन्त्र के संचालक राजागण चाहते तो युद्ध की यानकता और हिंसा की आड़ में अपना बचाव कर सकते और विहल्लकुमार को कोणिक की दया पर छोड़ सकते । परन्तु वे समझते थे कि गणतंत्र में इस प्रकार लंगड़े ाव को तनिक भी स्थान नहीं है।

अगर छोटे से छोटा भी अत्याचार सहन कर लिया य तो गणतन्त्र का आसन दूसरे ही क्षण कांपने लगेगा। ुवर्म के धुरन्धर अवसर आने पर कोणिक जैसे शक्ति- ली सम्राट से भी युद्ध करने को तैयार हो गये। नव ल्ली जाती के और नव लिच्छी जाति के इस प्रकार अठा- राजा चेटक को सहायता करने आ डटे ।

गणतन्त्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के साथ ही, एक के श्रय में आये हुए राजकुमार के साथ होने वाले अन्याय प्रतिकार और उसके अधिकार का संरक्षण, यही इस द्ध का मूल कारण था।

सम्भव है किसी को यह आशंका उत्पन्न हो कि सत्कार्य ा धर्म कहते हैं। यहां तो सिर्फ हार और हाथी न देने कारण ही घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम में असंख्य ादमियों के प्राण गये होंगे ऐसी स्थिति में अगर हार और थी लौटा दिया जाता तो न संग्राम होता और न अन- ानती जानें जाती। तब हार और हाथी न लौटाकर युद्ध ों छेड़ा गया? क्या यह युद्ध धर्मयुद्ध गिना जा सकता है?

यह प्रश्न विचारणीय है। इसका समाधान शास्त्रीय उदाहरण देने में अधिक स्पष्ट होगा।

राजा परदेशी ने केशी श्रमण के साथ खूब धर्म की। अन्त में राजा केशी श्रमण 'खमाये' क्षमायाचना कि बिना ही जाने को तैयर हुआ। तब केशी श्रमण ने क 'राजन !' तुमने लम्बे समय तक मेरे साथ बहुत सी टेढ़ी बातें की हैं और अन्त में खमाये बिना ही चले रहे हो। क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है ?

राजा परदेशी ने उत्तर दिया—मैं यह भलीभ समझता हूं आपसे क्षमायाचना न करने की मेरी भा भी नहीं है मेरा इरादा यह है कि मैं परिवार सहित, आपकी सेवा में उपस्थित होऊँ और आपसे क्षमा चना करूँ।

यहां विचारणीय बात यह है कि अगर राजा समय क्षमायाचना कर लेता तो जीव हिंसा कम हो परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने जीवहिंसा बहुत होगी। ऐसी स्थिति में सेना और परि के साथ आकर क्षमायाचना करने में ही राजा परदेशी क्या आशय रहा होगा ?

अगर परिवार और सेना सहत आकर क्षमाया करने में अधिक हिंसा होने की सम्भावना थी तो श्रमण राजा से कह सकते थे अगर तुम्हें 'खमाना' है इसके लिए परिवार को लाने की क्या आवश्यकता है ? करने में बहुत अधिक हिंसा होगी। मगर केशी श्र

स्वामी ने ऐसा कह कर राजा को रोका नहीं । इसका कारण क्या है ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि राजा ने अकेले में नहीं खमाया, इसका अर्थ यह है कि सपरिवार खमाने के लिए आने में धर्म की असाधारण प्रभावना होती है। जैन समाज के ऊपर राजा के व्यवहार का गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे धर्म का विशिष्ट उद्योत होता है।

इसी उद्देश्य से केशी श्रमण ने राजा परदेशी को सेना सहित खमाने के लिए आने का निषेध नहीं किया। साथ ही आने जाने से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना की सम्भावना होने के कारण उन्होंने सेना और परिवार सहित आने का आग्रह भी नहीं किया। इस प्रकार केशी स्वामी ने न तो राजा को आने की आज्ञा दी और न उसके आने का निषेध ही किया। उदाहरण से सहज ही समझा जा सकता है कि अधर्म और धर्म का विचार करते समय हमें अनेक दृष्टियों से विचार करना चाहिए। केवल आरम्भ समारम्भ को देखना और उससे होने वाले धार्मिक लाभ की ओर से आंख फेर लेना न्याययुक्त नहीं कहला सकता।

राज परदेशी मूर्ख न था। वह ज्ञानी था। कदाचित् राजा को अज्ञानी भी मान लिया तो केशी श्रमण तो विशिष्ट ज्ञानी थे। अगर राजा को ऐसा करना उचित न था तो केशी श्रमण ने उसे क्यों नहीं रोक दिया ?

कदाचित् तुम्हें यह शंका हो कि राजा परदेशी की बात श्रुत चारित्र धर्म से सम्बन्ध रखती है, अतएव यह

एक जुदी बात है। महाराज कोणिक की बात गणधर्म से सम्बन्ध रखती है, अतएव यह एक अलग ही प्रश्न है। दो विभिन्न धर्मों को एक ही कोटि में कैसे रक्खा जा सकता है ?

यहां तो प्रश्न यह है कि अगर हार और हाथी को वापस न लौटाया जाय तो बहुत से मनुष्यों के प्राण जाएगे, ऐसी स्थिति में यह युद्ध कैसे उचित कहा जा सकता है ?

प्रश्न ठीक है। जैसे अकेला परदेशी राजा 'खमा' कर चला गया होता तो श्रुत चारित्र-धर्म का प्रभाव जन समाज और सेना पर न होता। इस प्रकार गणधर्मी राजा न्याय-अन्याय का विचार करते और कोणिक को हार, हाथी सौंप देते और सरणागत विहल्लकुमार की सहायता न करते तो प्रजा के ऊपर गणधर्म की महत्ता का प्रभाव न पड़ता। इतना ही नहीं वरन् इस स्थिति में प्रजा गण-धर्म को कायरधर्म कहती और उसकी महत्ता मिट्टी में मिल जाती। उस समय प्रजा एक स्वर से कहती कि ऐसा डर-पोक धर्म किस मर्ज की दवा है ?

इस प्रकार हार और हाथी लौटा देने से अगर गण-धर्म जोखिम में पड़ जाता तो संघधर्म की रक्षा होती या उसका विनाश होता ? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणधर्म की रक्षा में संघधर्म की रक्षा है। और गणधर्म के विनाश में संघधर्म का भी विनाश है।

'जब तक सिर पर आकर नहीं पड़ा तब तक तो

ाणधर्म का स्वांग रचा और जब गणधर्म को कार्य में ारिणत करने का नाजुक प्रसंग आया तो गणधर्म को छोड़ देया।' इस प्रकार को लोकनिन्दा कोणिक को हार और ाथी लौटा देने से सर्व साधारण में फैल जाती । गणधर्म के इस अवर्णवाद से गणधर्म और राजधर्म कलंकित हो जाते । जैसे राजा परदेशी को सेना और परिवार के साथ क्षमायाचना करने के लिए आने से सम्यक्त्व का लाभ हुआ हुआ, इसी प्रकार गणधर्म और राजधर्म की कायरता का कलंक दूर करने के लिए अन्याय, अत्याचार के प्रतिकार की दृष्टिकार से और शरणागत विहल्लकुमार की रक्षा की दृष्टि से कोणिक को हार और हाथी न लौटाने में ही गण-धर्म का लाभ था । इसके लिए युद्ध करना आवश्यक हो गया था ।

यह युद्ध जैन सूत्रों में 'महाशिलाकंटक' तथा रथ-मूसल' संग्राम के नामों से प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से आदमी मारे गये । युद्ध में देवी सहायता से कोणिक की विजय हुई मगर इतना होने पर पर भी गणतन्त्र के धुरन्धरों ने भारी खतरा उठाकर भी अपने गणतन्त्र की प्रतिष्ठा रख ली।

गणतन्त्र-गणधर्म की रक्षा करते हुए जितने मनुष्यों का घात हुआ उन सबका महान पाप मुख्यतः कोणिक के हिस्से में आता है, क्योंकि उसी ने अन्याय का पक्ष लेकर चढ़ाई आरम्भ की थी । गणतन्त्र का उद्देश्य सिर्फ न्याय की रक्षा करना था ।

हम लोग भी आरम्भ समारम्भ को धर्म नहीं मानते। परन्तु धर्म की रक्षा करना आवश्यक ही है ।

आरम्भ समारम्भ के बहाने से आजकल लोगों ने अपनी धर्म बुद्धि को तिलांजली दे दी है । केवल इस कारण अनेक सामान्य लोग जैन धर्म को डरपोक धर्म मान बैठे हैं । चेटक राजा तथा नव-लिच्छी और नव-मल्ली राजा भगवान महावीर स्वामी के भक्त थे । फिर भी उन्होंने गणधर्म की रक्षा करने और उसकी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए यह युद्ध किया । पहले के मनुष्य इतने विचारशील और धर्मशील थे कि अन्याय को रोकने के लिए अगर युद्ध करना अनिवार्य हो जाय तो उससे एक भी कदम पीछे नहीं हटते थे । वे लोग शरणागत को शरण न देना और उसे न्याय न दिलाना जरा भी उचित नहीं समझते थे ।

जो मनुष्य शरण में आये हुए का त्याग कर देता है अर्थात् उसे आश्रय नहीं देता वह कायर है । जो सच्चा वीर है, जो महावीर भगवान् का सच्चा अनुयायी सेवक है, जो उदार और धर्मात्मा है, वह अपना सर्वस्व निछावर करके भी शरणागत की रक्षा और सेवा करता है ।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ, उनकी हत्या का पाप मुख्यतः महाराज कोणिक के ऊपर इसलिए डाला जाता है की उसने अन्याय का पोषण करने के लिए युद्ध का बीजारोहण किया था ।

गणतन्त्र के नायकों ने महाराज कोणिक को युद्ध न करने के लिए और राजकुमार विहल्लकुमार के प्रति अन्याय पूर्ण व्यवहार न करने के लिए खूब समझाया । फिर भी जब कोणिक ने अन्याय का पक्ष न छोड़ा और युद्ध के लिए

यारी करता दिखाई दिया तो विवश होकर उन्होंने सत्य
ौर न्यायधर्म का पक्ष लिया। शरणागत की और गण-
र्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उनके लिए अनिवार्य
ो गया।

चेटक राजा, नवमल्ली और नवलिच्छो जाती के
ठारहों राजा सम्यग्य दृष्टि थे, और कौणिक भी यद्यपि
हले भगवान् महावीर का भक्त था, परन्तु इस समय उसने
न्याय का पक्ष ग्रहण किया था।

एक मनुष्य अगर दुष्ट भाव से प्रेरित होकर एक
चिउंटी की हिंसा करता है तो वह पापी है। किन्तु एक
चक्रवर्ती राजा, जो अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार
करने के लिए अपनी चतुरङ्गा सेना को युद्ध के लिए तैयार
करता है, अपराधी नहीं कहलाता। इसका प्रधान कारण
यह है कि वह चक्रवती सम्राट स्वार्थ साधन के लिए,
दुष्ट भाव से प्रेरित होकर नहीं वरन् अन्याय और अत्याचार
का विरोध करने के लिए, विवश होकर युद्ध करता है।

अगर अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के
लिए कदम न उठाया जाय तो संसार में अन्याय का
साम्राज्य फैल जायगा और धर्म का पालन करना असम्भव
हो जायगा। जबकि दूसरो तरफ कीड़ी का वध करने
वाला मनुष्य-संकल्पजन्य हिंसा करने वाला मनुष्य संकल्प-
जन्य हिंसा करके अपराधी बनता है।

महाराजा कोणिक ने जान-बूझकर हिंसा की परि-
स्थिति खड़ी की और अन्याय करने पर उतारू हो गया।

[७]

संघ धर्म

[संघ धम्मे]



सूखा संघस्य सामग्गी, समग्गानं तपो सुखी ।

अर्थात्–संघ की सामग्री (एकता संगठन) सुखकारक और ऐक्य-संगठन पूर्वक रहने वाले श्रावक-श्राविक साधु-ाध्वी समस्त संघ का तपश्चरण भी सुखकारक होता हैं । –सुत्तनिपात

जैनधर्म और संघधर्म का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध । संघधर्म जैनधर्म रूप विशाल प्रासाद का जीवन–स्तम्भ । जैसे धर्मी के बिना धर्म नहीं टिक सकता इसी प्रकार ांघधर्म के बिना जैनधर्म नहीं टिक सकता ।

स्त्री और पुरुष गृहस्थ–जीवन रूपी रथ के चक्र हैं । ोनों में से एक चक्र छोटा, बड़ा असमान या टूटा–फूटा हो ो गृहस्थ–जीवन का रथ आगे नहीं बढ़ सकता । इसी ्रकार धर्मरथ के भी दो चक्र हैं–एक श्रावक–श्राविका ्सरा साधु–साध्वी । भगवान् महावीर ने धर्मरथ में दान ्रौर चारित्र रूप दो बलवान बैल जोतकर कुशल धर्म-

लिए संघशक्ति की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य
पूर्ति के लिए समस्त मानव-समाज संघस्थापना की
षणा स्वीकार करता है। छोटी-मोटी संस्थाएं, युवकसंघ,
द्यार्थीसंघ, मण्डल, गच्छ, संघाड़े सम्प्रदाय आदि विभिन्न
मों से जुदा-जुदा संघ लोकमत जागृत करके अपने उद्देश्य
पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं।

एक व्यक्ति की शक्ति, चाहे कितनी ही बलवती क्यों
हो, जब तक बिखरी हुई अन्य शक्तियों को एकत्रित न
या जाय—संघ रूप में परिणत न किया जाय तब तक,
ससे इष्टसिद्धि नहीं होती।

नीतिकार भी संघ-शक्ति की महत्ता को स्वीकार
रके उस पर बहुत अधिक जोर देते हैं। 'संहतिः श्रेयसी'
र्थात् संघशक्ति कल्याणकारिणी है, इतना कहकर ही
न्होंने सन्तोष नहीं किया। हम जिसे तुच्छ समझकर
पेक्षा या आलोचना की दृष्टि से देखते हैं उस तुच्छ प्रतीत
ने वाले व्यक्तियों का संगठन करके संघबल का निर्माण
ने पर ही 'संहतिः कार्यसाधिका' अर्थात् संघशक्ति हा
लदायिनी होती है। इस प्रकार कहकर नीतिकार संघशक्ति
ा महत्व स्वीकार करते हैं। कहा भी है।—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

तिनके जैसी तुच्छ वस्तु को एकत्र किया जाय तो
ससे बड़े बड़े मदोन्मत्त हाथी बांधे जा सकते हैं। इस
ोकप्रसिद्ध उदाहरण को कौन गलत साबित कर सकता

है ! इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बिखरे हुए को अगर एकत्र करके संघबल के रूप में परिणत करा जाय तो असम्भव प्रतीत होने वाला कार्य भी सरलता साथ सम्पन्न किया जा सकता है, इस बात को भी गलत साबित कर सकता है ? संघशक्ति क्या नहीं सकती ? जब निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं संगठन अद्‌भुत काम कर दिखलाता है तो विवेक धारण करने वाले मानव-समाज की संघशक्ति का ही क्या ?

मानवता के विकास के लिए संघशासन का आवश्यक है। भगवान् महावीर ने जगत के कल्याण लिए संघशासन का जबर्दस्त काम हाथ में लिया था उस समय संघशासन शिथिल पड़ा गया था। ब्रा और बौद्धों में संघशासन सम्बन्धी बहुत त्रुटि थी। स्त्री और शूद्र को अपने शासन में सम्मिलित नहीं का था, किसी में और प्रकार की अपूर्णता थी। इतना नहीं उस समय शूद्रों को धर्मकृत्व करने का भी अधि नहीं था। तत्कालीन एकांकी संघयोजना से मानवता का विकास कुंठित हो गया था। यह देखकर भ महावीर ने संमयोजना को व्यवस्थित रूप दिया। मान दृष्टि से समस्त, मानवजाति को संघयोजना में समान अ कार मिला। यही नहीं, स्त्री और शूद्र जाति को समय अवगणना जाति थी, पर भगवान् ने उन्हें ज्ञान अ चारित्र का अधिकार मानकर संघशासन में समान अ दिया। भगवान् महावीर के समान सुन्दर संघयोजना परिचय किसी भी संघसंस्थापक ने नहीं दिया। भग

वीर की संघ योजना से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का इतिहास ज्जवल है । भगवान् महावीर का जिनशासन, जो अब व्यवस्थित रूप से चल रहा है, सो उनके द्वारा प्ररू- की बदौलत ही । संघधर्म का ध्येय व्यक्ति के श्रेय के य समष्टि के श्रेय का साधन करना है । जब समष्टि श्रेय के लिए व्यक्ति का श्रेय खतरे में पड़ जाता है तब ष्टि के श्रेय का साधन करना संघधर्म का ध्येय बन ाता है । संघधर्म को व्यवस्थित रखने का उत्तरदा- त्व संघ के प्रत्येक सभ्य पर रहता है ।

संक्षेप में संघ का धर्म है—संघ के प्रत्येक सभ्य का म साधन करना । संघधर्म मुख्यरूप से दो विभागों में ा हुआ है—(१) लौकिक संघधर्म और (२) लोकोत्तर घधर्म । लौकिक संघधर्म के सभ्य (श्रावक और श्राविका) ौकिक सघशासन का कार्य जवाबदारी के साथ चलाते हैं ौर लोकोत्तर संघधर्म के सभ्य (साधु और साध्वी) लोको- र संघशासन का काम जवाबदेही के साथ करते हैं ।

लौकिक संघधर्म क्या है और उनके सभ्यों का धर्म या है ? इस सम्बन्ध में यहां सक्षिप्त विचार किया जायगा। ौकिक संघ धर्म में शास्त्रकार का कथन है ।

संघधम्मो—गोष्ठीसमाचारः,

अर्थात्—संघ या सभा के नियमोपनियम ।

जाहिर समाचार, जाहिर सभा तथा संस्था, जिसमें र्वसाधारण का अधिकार है और जहां सर्व साधारण की

सुखसुविधा का विचार किया है आदि समस्त अंगों ... लौकिक संघ धर्म में समावेश हो जाता है ।

जो जैनधर्म ऐसी सुन्दर संघयोजना को स्वीका... करता है वह आज लोगों की दृष्टि में इतना अपूर्ण और अव्यवहार्य क्यों दिखाई देता है ? कई लोग इस प्रकार का प्रश्न करते हैं । वास्तव में यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है । जैनधर्म को अपूर्ण या अव्यवहार्य कह कर लांछि... करने में कुछ अपराध तो उन लोगों का है जो जैन धर्म के वास्तविक मर्म को समझे बिना ही, केवल मताग्रह ... प्रेरित होकर अथवा बाहर के दूषित वातावरण के ... कारण, उसे लांछन लगाने में प्रवृत्त होते हैं । और प्रधा... अपराधी वे जैन भाई स्वयं हैं जो कायरता धारण कर... महावीर धर्म को लजाते हैं । वस्तुस्थिति यह कि जैनध... अपने उदार, उन्नत और सार्व सिद्धान्तों के कारण विश्व धर्म बनने के योग्य है ।

सार्वजनिक सभाओं तथा संस्थाओं में समस्त ... अर्थात् सम्पूर्ण मानवजाति के हित और श्रेय का वि... किया जाता है । जिस धर्म में हिन्दू, मुसलमान या ... ही किसी एक ही वर्ग, समाज या जाति के हित ... विचार किया है उसे कुलधर्म भले ही कहा जा सके, ... राष्ट्र का संघधर्म नहीं कहा जा सकता । क्योंकि राष्ट्र... संघधर्म व्यक्तिगत या वर्ग हित की अपेक्षा समष्टि के हि... का सर्व प्रथम विचार करना है ।

राष्ट्र का संघधर्म ठीक अखिल भारतीय ... (National Congress) सरीखा है । संघधर्म के अ...

जिस संस्था या सभा की स्थापना की जाती है उसमें समष्टि के हित के विरुद्ध, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित का विचार नहीं किया जाता समष्टि के हित को विपत्ति में डालकर व्यक्ति या वर्ग के हित का विचार करना संघधर्म की जड़ उखाड़ना है ।

जिस प्रणाली से समष्टि का श्रेय और हित सुरक्षित होता हो उसी का आश्रय लेना चाहिये । इसी में संघधर्म की महत्ता और शोभा है ।

उदाहरणार्थ–मान लीजिए, अखिल भारतीय संघ (All India National Congress) ने भारत में विदेशी वस्त्रों के त्याग का निश्चय किया । निःसन्देह इस निश्चय से विदेशी वस्त्रों का व्यापार करने वालों को आर्थिक हानि होती है । फिर भी अगर इस निश्चय से भारतवर्ष के करोड़ों गरीब भाइयों को खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र मिलता हो तो वह प्रस्ताव कार्य रूप में अवश्य परिणत होना चाहिए ।

ऐसा करने से ही संघधर्म का पालन होता है । इससे विपरित उक्त निश्चय की परवाह न करते हुए, भारत के गरीब भाइयों के जीवनरक्षण का विचार तक न करना संघधर्म का अपमान है । ऐसा करने से संघधर्म का विनाश होता है । ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यापारी राष्ट्रधर्म या संघधर्म के पोषक प्रस्ताव की मुखालफत करके छल–कपट से विदेशी वस्त्र का व्यापार करता है तो वह स्पष्ट रूप से राष्ट्रधर्म एवं संघधर्म का अपमान करता है । निष्कपट भाव से संघधर्म का पालन करने से संघ को अत्यधिक

के लिए क्षेत्र तैयार होता है, उस संघधर्म को एकान्त पाप कहना उचित नहीं कहा जा सकता है।

संघधर्म के पालन में आरम्भ समारम्भ होता है और उसे आरम्भ समारम्भ मानना भी चाहिए, परन्तु इस प्रकार का आरम्भ समारम्भ भी विशेष प्रकार का होता है। एक आदमी अपनी पुत्री का विवाह करता है और दूसरा अपनी माता का विवाह करता है। दोनों में विवाह का ठाट-बाट सरीखा है, फिर भी क्या दोनों विवाह एक सरीखे कहे जा सकते हैं ? कदापि नहीं।

दोनों विवाहों खर्च बराबर होने पर भी क्या दोनों विवाह बराबरी के गिने जायेंगे ? अगर कोई आदमी आरम्भ समारम्भ की दृष्टि से दोनों विवाहों को एक समान माने तो ? उसकी मान्यता गलत होगी।

यही आरम्भ समारम्भ के विषय में समझनी चाहिए। कुछ काम ऐसे होते हैं जिन्हें करने से वास्तविक उन्नति होती है और साथ ही अनेक महान् पापों का प्रतिकार भी होता है और कुछ काम ऐसे होते हैं जिन्हें करने से आरम्भ समारम्भ के पाप के साथ ही साथ अन्य अनेक महान् पापों को उत्तेजना मिलती है।

यह सब जानते-बुझते भी जो लोग करने योग्य कार्यों को पाप रूप समझ कर त्याग देते हैं वे अपनी अवनति के साथ-२ पापों की भी वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों का एकान्त पाप कह कर लोग त्याग न दें और अवनति के मार्ग पर अग्रसर होकर पापों की वृद्धि न करें,

ाबर पालन किया जायगा तो लौकोत्तर संघधर्म भी
व्यवस्थित रूप से चलेगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं ।
ारण यह है कि यद्यपि लौकिक संघधर्म और लोकोत्तर
ंघधर्म के नियम भिन्न-२ है फिर भी दोनों संघधर्म
मक सम्बन्ध में एक दूसरे से खूब जकड़े हुए हैं । इन
ों को एकान्त भिन्न नहीं माना जा सकता है ।

यहां तक लौकिक संघधर्म के सदस्यों के कर्त्तव्य का
ार किया गया है । अब लोकोत्तर संघधर्म क्या है
ः उसके सदस्यों का कर्त्तव्य क्या है, इस विषय पर
ार करना आवश्यक है ।

जिस धर्म के पालन से साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका
चतुर्विध श्री संघ की उन्नति हो वह लोकोत्तर संघ का
है । लोकोत्तर संघधर्म में भी व्यक्तिगत लाभ का
ार करते हुए समष्टिगत लाभ का दृष्टिकोण ही सामने
ना चाहिए ।

कोई यह शंका कर सकता है कि श्रुत चारित्रधर्म में
संघधर्म का समावेश हो जाता है तो फिर उसका अलग
न करने की क्या आवश्यकता है ? यह कथन निराधार
क्योंकि श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अलग-अलग हैं और
धर्म उन दोनों से भी अलग धर्म है । संघधर्म में संघ
गृहस्थ और त्यागी दोनों प्रकार के सदस्यों का कर्त्तव्य
न-२ बताया गया है । अगर इन दोनों का कर्त्तव्य
ा-जुदा न बताया जाय तो संघ का अस्तित्व अधिक
य तक टिक नहीं सकता । इसे स्पष्ट करने के लिए
उदाहरण लीजिए ।

एक मनुष्य वस्त्रों का व्यवसाय करता है और दूसरा जवाहरात का। लौकिक संघधर्म के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो दोनों व्यवसायी समान हैं, फिर भी वे दोनों एक दूसरे का काम करने में असमर्थ हैं जौहरी, बजाज का और बजाज जौहरी का काम सफलता पूर्वक नहीं चला सकता। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि दोनों दुकानें बहुत समय तक चालू नहीं रह सकेगी।

इस प्रकार गृहस्थ और साधुओं को मिलाकर ए संघ बनता है। जब समस्त संघ का प्रश्न उपस्थित हो है तो सभी की गणना समान रूप में की जाती है। कि जैसे बजाज. जौहरी का और जौहरी बजाज का उत्तरदा यित्व नहीं सम्भाल सकता वैसे हो साधु, श्रावक की औ श्रावर साधु की जबावदेही नहीं निभा सकते।

अगर साधुओं की जवाबदेही श्रावकों पर डाल जाय तो वह संघ नष्ट हुए बिना न रहेगा। बालक क स्तनपान कराके ही जीवित रखा जा सकता है, मगर को साध्वी बालक को स्तनपान करावे तो क्या संगत होगा नहीं। ऐसा करने से शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दो होगा।

लेकिन अगर कोई माता श्राविका यह सोचकर कि साध्वी को स्तनपान कराने में दोष लगता है अतएव भी बालक को दुध न पिलाऊंगी, बालक को दूध न पिलाये तो क्या यह धर्म होगा ? लोग उसे क्या कहेंगे ? निर्दयी

शास्त्रों में श्रावकों के लिए पहले अहिंसाव्रत के पां

अतिचार वतलाये गये हैं । उनमें एक अतिचार 'अन्नपान का विरोध*करना भी है । इससे विपरीत साधु यदि किसी जानवर या मनुष्य को अन्न-पानी दे तो उसे अति-चार लगता है । इसी प्रकार श्रावक अगर अन्न-पानी न दे तो उसे दोष लगता है । ऐसी स्थिति में अगर साधुओं के कर्त्तव्य श्रावक को लागू किए जाएं तो श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार हो सकेगा ।

कुछ लोगों का कथन है कि 'जो काम साधु कर सकता है वह धर्म है और जिस काम का साधु के लिए निषेध है वह सब पाप है । इस समझ के कारण श्रामक-समाज में गलतफहमी फैल रही है । उन्होंने अपनी प्रबल वुद्धि से सम्पूर्ण शास्त्र को इसी विधान में निचोड़ कर भर दिया जान पड़ता है । पर वे इस बात का विचार तक नहीं करते कि प्रत्येक को अपनी अपनी जवाबदेही समझाये बिना संघधर्म को कितनी अधिक हानि पहुंचने को सम्भा-वना है । उन्हें विचार करना चाहिए कि जो काम सिर्फ साधुओं के लिए ही निश्चित किये गये हैं, उन्हें करने से श्रावकधर्म का किस प्रकार पालन किया जा सकता है ?

जब एक साधारण घर में भी प्रत्येक आदमी का कार्यक्रम अलग रहता है तो फिर इतने बड़े संघ का काम,

---

*देखो प्रतिक्रमण सूत्र-पहले व्रत के पांच अतिचारों में 'भत्तपाण वुच्छेए' (भक्तपानव्युच्छेदः) अर्थात् अन्न-पानी भोगने में रूकावट डालना पांचवां अतिचार हैं ।

देखो वाचक उमास्वातिजी का तत्वार्थधिगमसूत्र—बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।' अध्याय ७वां ।

कार्यप्रणाली को विभाजित किये बिना किस प्रकार चल सकता है ?

मान लीजिए, एक साहूकार के घर में चार पुत्रवधुएं हैं। उनमें एक पुत्रवती है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बांझ है और चौथी नवविवाहि है।

अगर सास इन चार वधुओं के खान-पान, रहन-सहन और काम काज की व्यवस्था अलग-अलग न करके चारों को एक ही प्रकार से रक्खे तो क्या परिणाम आयेगा ? हानि ही होगी।

साधुओं में भी कोई जिनकल्पी होता है। कोई स्थविरकल्पी। कोई रोगी होता है, कोई त्यागी होता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से इसका विचार न किया जाय तो सबका निर्वाह भलीभांति कैसे हो सकता है ?

जब साधुओं में भी आंतरिक्ष भेद के अनुसार जुदा-जुदा कर्त्तव्य निर्धारित किया जाता है तो फिर साधु और श्रावक का निर्वाह एक ही धर्म का पालन करने से किस प्रकार हो सकता है ?

साधुओं की आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं, जबकि श्रावकों की आवश्यकताएं अधिक होती है।

अगर साधु और श्रावक की भिन्न-भिन्न मर्यादाएं न स्वीकार को जाए तो श्रावक और साधु बनने की आवश्यकता ही क्या है ? श्रावक इसलिए तो साधु बनते हैं कि गृहस्थावस्था में होने वाले आरम्भ समारम्भ से बच सकें

ओर अपनी आवश्यकताएं कम से कम बना लें।

अगर श्रावक और साधु का धर्म एक हो तो श्रावक धर्म और साधुधर्म में भिन्नता ही क्या रही ? श्रावक और साधु की बात जाने दीजिए, श्रावक-श्रावक का धर्म भी जुदा-जुदा हा होता है। उदाहरणार्थ-एक श्रावक घर में अकेला है, वह पांच सात रुपये में ही अपना निर्वाह कर लेता है। दूसरा श्रावक एक राजा है। उसका कुटुम्ब-परिवार भी बड़ा है। ऐसी स्थिति में पहला श्रावक अगर विचार करे कि मैं जो करता हूं वही श्रावकधर्म है। अर्थात् पांच-सात रुपया मासिक व्यय में ही काम चलाना चाहिए। जो इससे अधिक व्यय करता है, अथवा जो मुझ से अधिक आरम्भ समारम्भ करता हैं, वह श्रावकधर्म का पालन नहीं करता।' तो क्या राजा बारह व्रतधारी श्रावक कहला सकेगा ? नहीं।

शास्त्र में अनेक श्रेणी के व्यक्ति के लिए जुदा-जुदा धर्म निश्चित किया गया है। एक व्यक्ति सोलह देशों का राजा होने पर भी बारह व्रतधारी श्रेष्ठ श्रावक बन सकता है इस शास्त्रसम्मत और नीतियुक्त बात के विरुद्ध कथन करना संघधर्म के लिए हानिकारक है।

उपयुक्त निवेचन से यह सिद्ध होता है कि साधुओं का आचारधर्म और श्रावकों का आचारधर्म भिन्न-भिन्न है। जो लोग दोनों के आचारधर्म को एक बतलाते हैं वे भूल करते हैं। उनकी भूल के कारण आजकल संघधर्म चक्कर में पड़ गया है। संघ को अनुचित व्यवस्था न होने से साधु अपनी जवाबदेही श्रावकों पर और श्रावक अपनी

जवाबदेही साधुओं पर डाल रहे हैं । जैसे पाठशाला का संचालन करना, संस्था खोलना, किसी कार्यालय को सक्रिय व्यवस्था करना, गोरक्षा तथा अनाथरक्षा की सक्रिय व्यवस्था करना इत्यादि कार्य दया और परोपकार के अवश्य है, परन्तु साधु जब ऐसे व्यवहारिक प्रपंच में पड़ते हैं तो उनकी अध्यात्मसाधना में विघ्न पड़ता है ।

साधु परोपकार न करे तो परोपकार कौन करेगा ? इस सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि ऐसे परोपकार के कार्य, जिनमें आरम्भ आदि क्रियाएं करनी पड़ती है अगर साधु करेंगे तो श्रावक क्या करेंगे ? प्रत्येक को अपनी मर्यादा में रहकर ही कार्य करना चाहिए । यही शास्त्रीय विधान है।

अगर श्रावकों का कर्त्तव्य साधु अपने सिर ओढ़ लें तो साधुओं के महाव्रतों का पालन क्या श्रावक करेंगे ? अगर श्रावकों का काम साधु अपने हाथों में ले लें तो श्रावक तो महाव्रत पालने से असमर्थ हैं ही, साधु भी महाव्रत न पाल सकेंगे । नतीजा यह होगा कि महाव्रतों का लोप होने लगेगा ।

साधुओं को पैसे के प्रपंच में पड़ना उचित नहीं है। 'अमुक संस्था को एक हजार रुपये दे दो' अथवा परोक्ष रूप में 'पैसे की ममता त्यागो 'इस संस्था के लिए पुद्गलों का त्याग करो' इत्यादि प्रकार से कहना योग्य नहीं है । कदाचित् रुपये की आवश्यकता के कारण अपव्यय हो तो साधु पर विश्वासघात का दोष आता है अतएव आत्मसाधन साधु पैसे के प्रपंच में नहीं पड़ सकता ।

वर्त्तमान काल में अनेक संस्थाओं में अव्यवस्था देखी जाती है। स्वार्थत्यागी योग्य आदमियों की कद्र नहीं रही और जो चाहता है वही संस्था की स्थापना करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार नई नई संस्थाएं स्थापित करने वालों की परीक्षा किये विना जो श्रावक उन्हें नियम विरुद्ध सहोग देते हैं वे साधुत्व के हाल में सहयोग देते हैं।

जो काम श्रावकों को करने योग्य हैं उन्हें श्रावक करें और जो साधुओं को करने योग्य हैं उन्हें साधु करें, इसी में संघ की सुव्यवस्था रहती है। जिन कार्यों में थोड़ा आरम्भ और अधिक उपकार होता है, ऐसे कार्य श्रावक सदा से करते आये हैं। केशी स्वामी ने चित्तप्रधान से कहा था—परदेशी राजा मेरे सामने ही नहीं आता तो मैं उपदेश कैसे दूं? इस कथन से यह प्रतीत होता है कि राजा परदेशी को केशी महाराज के पास लाना श्रावकों का कर्त्तव्य था, साधुओं का नहीं। यह कर्त्तव्य साधुओं का होता तो केशी महाराज किसी को भेज कर उसे बुला लेते। परन्तु परदेशी राजा को चित्त प्रधान लाया था। तात्पर्य यह है कि साधु, साधुओं के योग्य और श्रावक श्रावकों के योग्य कर्त्तव्य करते आये हैं। मेरा आशय यह नहीं है संस्थाएं स्थापित न की जाएं। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि साधु व्यावहारिक प्रपंचों में न पड़े और अपने साधु-धर्म का ही तत्परता के साथ पालन करें—

श्रावकों को उपदेश देना साधुओं का कर्त्तव्य है। केशी श्रवण ने राजा परदेशी को श्रावक बनाने के बाद उपदेश दिया था कि हे राजा! तुम रमणीक से अरमणीक

न होना। यह उपदेश सुनकर राजा ने स्वयं राज्य के चार भाग करके, एक भाग दान देना आरम्भ किया। केशी श्रमण ने राजा को यह नहीं कहा था कि 'तुम इस प्रकार करो। उपदेश देने से श्रावक स्वयं अपना कर्त्तव्य समझ ले तो साधुओं की प्रेरणा या आग्रह करने को क्या आवश्यकता है? जिनकी श्रद्धा होगी, जिसमें शक्ति होगी, वे स्वयं सब बातें समझेंगे और दूसरे का उपकार करने में प्रवृत्त होंगे। साधु किसी को संकोच या लाज-शर्म में डाले वह उचित नहीं है।

कोई साधु कदाचित् यह कहे कि श्रावक व्यवस्था करने तथा संस्था चलाने में असमर्थ हैं, ऐसी हालत में अगर हम संस्था का संचालन न करें तो काम कैसे चल सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहता हूं कि अगर उन्हें इसी में संघ का कल्याण दिखाई देता है तो वे साधुपन छोड़कर श्रावक बन कर वह काम कर सकते हैं।

साधुओं को अध्ययन करने की आवश्यकता है। अगर साधु उच्च श्रेणी की शिक्षा न लें तो ज्ञान दर्शन और चारित्र का पूर्ण रूप से महत्व न समझ सकेंगे और शुद्ध उच्चारण करना भी उनके लिए कठिन हो जायेगा। इससे धर्म की हानि होने की संभावना है। आजकल, वर्त्तमान परिस्थिति में जो परिवर्त्तन हो रहे हैं उनमें भी हमें अपने संघ को टिकाये रखना है। अतएव साधुओं को समस्त शास्त्रों में निपुण बनाकर जैनधर्म की प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। 'पढ़मं नाणं तओ दया' भगवान् महावीर का यह सन्देश सर्वत्र फैलाना अत्यावश्यक है।

अगर कोई साधु शास्त्र में पारंगत होने के बाद म्प्रदाय के बंधनों को विकास में बाधक समझ कर म्प्रदाय से जुदा हो जाय और अपनी स्वेच्छा से कार्य रने लगे और आचार्य भी उसे अविनीत जान कर छोड़ फिर भी अगर श्रावक उसकी सहायता करते रहेंगे और म्प्रदाय की मर्यादा को स्वीकार न करने पर भी उसे जते रहेंगे तो क्या वह साधु अपने आचार्य की परवाह रेगा ? जिस साधु को आज्ञा से बाहर कर दिया गया उसे तुम लोग पूजते रहो तो यह आचार्यपद का मूलोच्छेद रने समान है या नहीं ?

अगर तुम्हें ऐसा ही कार्य करना है तो तुम्हारी मर्जी, तना याद रखना कि आज्ञा से बाहर (बहिष्कृत) किये हुए ाधु की सहायता करना संघधर्म पर कुठाराघात करने के मान है ।

अगर तुम बहिष्कृत शिष्य की सहायता करते रहोगे ो एक दिन सब स्वतन्त्र होकर कहने लगेंगे—'साम्प्रदा-िक बन्धनों को आवश्यकता नहीं है ।' इस स्थिति में ौन शिष्य आचार्य की आज्ञा में रहना पसन्द करेगा ?

साम्प्रदायिक बन्धनों की आवश्यकता स्वीकार न रना संघधर्म सम्बन्धी अज्ञान को प्रकट करता है । अगर ावक भली-भांति विचार करके इस विषय में योग्य व्य-स्था न करेंगे तो साधु स्वच्छन्दचारी बन जाएंगे । एक कार की अव्यवस्था और विशृङ्खलता फैल जाने से धर्म ा और आचार्यपद का महत्व नहीं रहेगा । ऐसी हालत संघ का काम कैसे चल सकेगा ? इस बात पर तुम्हें

सावधानी के साथ विचार करना चाहिए ।

राष्ट्रीय महासभा में स्वीकृत निर्णय सम्पूर्ण भार[illegible] वर्ष का निर्णय है । अगर कोई मनुष्य उस निर्णय [illegible] अपमान करता है तो वह सभा का अपमान है ।

महासभा के प्रस्तावों का पालन करना प्रत्येक व्य[illegible] का कर्त्तव्य है । इस बन्धन को आवश्यकता स्वीकार [illegible] करके अगर हर एक आदमी अपनी मनमानी करने लगे [illegible] राष्ट्र धर्म और संघधर्म का अस्तित्व अधिक समय तक न[illegible] बना रह सकता । ठीक यही बात लोकोत्तर संघधर्म [illegible] विषय में भी समझनी चाहिए । जो व्यक्ति संघधर्म [illegible] विरुद्ध अपनी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता खोजता फिरता है [illegible] संघधर्म का अपमान करता है ।

श्रुत–चारित्र–धर्म, प्रत्येक व्यक्ति का जुदा-जुदा है परन्तु संघधर्म सबका सामूहिक धर्म है । अतएव संघ के ऊपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । संघध[illegible] अभाव में चारित्रधर्म अधिक समय तक नहीं टिक सक[illegible] हर एक आदमी अपनी–अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो क[illegible] ही है, पर साथ ही उसे गांव की रक्षा करने की ओर ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि गांव लुटने पर उसकी अ[illegible] सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती । यही बात श्रु[illegible] चारित्रधर्म एक व्यक्ति की सम्पत्ति के समान है और [illegible] धर्म समूचे गांव की सम्पत्ति के समान है ।

अगर समूचे गांव की सम्पत्ति लुट जाय तो [illegible] मनुष्य अपनी सम्पत्ति किस प्रकार सुरक्षित रख सकता[illegible]

सी प्रकार जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म की सुरक्षा ाहते हैं तो संघधर्म की रक्षा की तरफ भी पर्याप्त ध्यान ना चाहिये।

संघधर्म का महत्व इतना अधिक बतलाया गया है अगर कोई साधु विशिष्ट अभिग्रह आदि चारित्रधर्म की धना में तल्लीन हो रहा हो और उस समय संघ को निवार्य आवश्यकता पड़ जाय तो साधु को अपनी साधना ाग करके भी संघ का कार्य पहले करना चाहिए। यह ास्त्र का आदेश है। यह बात भद्रबाहु स्वामी की कथा अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एक बार भद्रबाहु स्वामी एकान्त में योग की साधना र रहे थे। उस समय संघ में विग्रह हो गया। जब तक ाई तेजस्वी और प्रतिभाशाली पुरुष उसका निपटारा न रे तब तक विग्रह शांत होना असम्भव सा प्रतीत होता ा। आखिर संघ एकत्र हुआ। संघ ने निश्चय किया कि द्रबाहु स्वामी के सिवाय दूसरा कोई इस विग्रह को शांत हीं कर सकता। उन्हें बुलाने के लिए कोई साधु जावे ौर यहां आकर भद्रबाहु स्वामी निपटारा कर दें।

साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुंचे। उन्होंने संघ ा आदेश कह सुनाया। सब बात सुनकर स्वामी ने उत्तर या—'मैं इस समय योग की साधना में तल्लीन हूं। योगा- धना के पश्चात् वहां आऊंगा।'

भद्रबाहु स्वामी का कथन साधुओं ने आकर संघ को ता दिया। उत्तर सुनकर संघ चकित रह गया कि आचार्य

ने अपने कल्याण के लिए समस्त संघ की उपेक्षा क्यों की? पूर्वापर विचार करने के बाद संघ ने उन्हें बुलाने के लिए फिर साधु भेजे। साधुओं ने संघ के कथनानुसार निवेदन किया।

महाराज ! योग-साधना करके आपको अकेले अपना कल्याण करना श्रेष्ट है या सकस्त संघ में फैले हुए विग्रह को शांत करना श्रेष्ठ है? दानों में अधिक श्रेष्ठ क्या है?

संघ का यह प्रश्न सुनकर भद्रबाहु स्वामी अपना अभिग्रह अधूरा छोड़कर संघ के पास आये और श्रीसंघ से क्षमायाचना करके कहने लगे 'मेरी योग-साधना की अपेक्षा संघ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है।' यह कहकर उन्होंने सघ को सान्त्वना दी। कई लोग कहा करते हैं—हमें इससे क्या? हमें दूसरों की चिन्ता करने से क्या मतलब? हम चैन से रहें तो बस है। दूसरों का जो हानहार है वह होगा ही। उससे हमें क्या लेन-देन? ऐसे विचार वाले लाग भयंकर भूल करते हैं। जिस ग्राम में या जिस देश में ऐसे विचार वाले लोग रहते हैं उस ग्राम या देश का अध:पतन हुए बिना नहीं रह सकता। जब से भारतवासियों के दिल में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए तभी भारतवर्ष का अध:पतन आरम्भ हुआ। अब भारत में यह दुष्ट भावना बदलती दिखाई पड़ रही है और समस्त राष्ट्र संगठित होकर राष्ट्रोद्धार करने में तत्पर हो गया। अतः यह आशा को जाती है कि भारतवर्ष की दशा कभी न कभी अवश्य सुधरेगी।

पर 'हमें इससे क्या' वाली दुष्ट भावना जैनसंघ

से अभी तक दूर नहीं हुई। और इस भावना को नेस्तनाबूद करने के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है, यह अधिक दुःख की बात है। संघधर्म का महत्व न समझने के कारण ही जैनसंघ में यह दूषित भावना घुस गई है।

भगवान का कथन है कि सहधर्मियों को किसी भी प्रकार की शांति पहुंचने से निर्जरा होती है। इस समय संघधर्म की रक्षा करने की परमावश्यकता है।

भद्रबाहु स्वामी संघ के हित को लक्ष्य में रख कर संघ के पास आये थे। और संघ का हित साधन किया था। धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करने के बराबर है। मनुजी ने ठीक ही कहा है।

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मोहतोऽवधीत् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य धर्म का नाश करता है धर्म उसका नाश करता है। और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्म हमारा नाश न करे, इसलिए हमें धर्म का नाश नहीं करना चाहिये।

संघ आज अव्यवस्थित हो गया है। उसका संगठन करना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। मगर अभी तक जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है। संघ बल एकत्र करने में कितना अधिक लाभ है, इस बात को इस समय समझ लेने की बड़ी आवश्यकता है।
आजकल संघ अस्तव्यस्त हो चुका है। जब तक उसे संगठित नहीं किया जाता तब तक किसी कार्य में पूर्ण सफलता

मिलना कठिन है। सिर्फ पांच ही मनुष्यों को इकट्ठा कि
जाय तो उनसे भी पांच हजार आदमी इकट्ठे हो सकते हैं
और संसार में आदर्श शक्ति पैदा कर सकते हैं। दक्षि
अफ्रिका में अग्रेज भारतीयों को फुटपाथ पर नहीं चल
देते थे और फर्स्ट क्लास या सैकेंड क्लास की टिकिट हो
पर भी वहां से उतार कर थर्ड क्लास के डिब्बे में बै
देते थे। भारतीयों के साथ किया जाने वाला यह व्यवहा
तो असाधारण-सा समझा जाता था। कोई भारतीय घो
गाड़ी की टिकट लेकर उस गाड़ी में बैठ नहीं सकता था।
एक बार गांधीजी भी ऐसी चपेट में आ गये थे और उ
खूब मार भी खानी पड़ी थी। पर अकेले गांधीजी ने ह
वहां के भारतीयों की अस्तव्यस्त शक्ति का संगठन कि
और उस शक्ति से सत्याग्रह करके भारतीयों के मान
क्षा की। भारतीयों से वसूल किया जाने वाला तीन पौं
का कर भी उन्होंने मंसूख कराया।

अगर आप लोग संघबल का संगठन करो तो को
भी कार्य अशक्य नहीं है। संघबल और संघधर्म का मह
समझ कर तदनुसार शक्ति संगठित की जाय तो संघध
का और जैनधर्म का अवश्य ही उद्धार होगा, इसमें लेशमा
भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर संघधर्म का बरा
पालन हो तो संघबल से देश, समाज और धर्म में ऐ
क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि जिससे संघशक्ति का उ

रोत्तर विकास होता रहे।

संघबल प्रकट करो और उससे विकार-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। संघबल जैसे सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए भी संघबल की अनिवार्य आवश्यकता है। अपने पूर्वाचार्यों ने तो संघ को भगवान मानकर उसकी स्तुति की है और 'नमो संघस्स' कहकर संघशक्ति को नमस्कार किया है।

संघशक्ति लोकशक्ति है और लोकशक्ति धर्म की माता है। जो लोग संघबल का वास्तविक का महत्व समझते हैं वे संघबल का वास्तविक महत्व समझते हैं वे संघ को 'अम्मापिया' अर्थात् माता-पिता के समान पूज्य गिनकर उसकी पूजा करते हैं। संघपूजा सच्ची धर्मपूजा है।

संघ अपना धर्मप्राण है। संघबल है संघशक्ति अपनी धर्मशक्ति है। अतएव धर्मप्राण की रक्षा के लिए जीवन में संघबल प्रकट होगा तब संघधर्म में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

नमो संघस्स
संघ को नमस्कार हो।



[७]

सूत्र धर्म

(सूत्त धम्मे)

*****

जहा सुई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सइ ।
तहा जीवो ससुती संसारे वि न विणस्सइ ॥

चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी हुई सुई छोटे सूत्रडोरे से युक्त हो तो गुमती नहीं है। इसी प्रकार सहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आ भान से वंचित नहीं होता।

'जानो, समझो, विचार करो' धर्म-शास्त्र की इस घो द्वारा मुमुक्ष जीवों को शास्त्रकार ने सूत्रज्ञान की प्रधा सूचित की है।

शास्त्रकारों ने सिर्फ चतुराई, सिर्फ पण्डिताई, वाक् कुशलता, कोरी व्यवहारपटुता, कोरा मनोरंजन कोरा वक्तृत्व ज्ञान नहीं माना। जिस सम्यज्ञान के प्र भाव से चितवृति शुद्ध होती है, क्रोध आदि कषाय होते हैं और संयम तथा समभाव का पोषण होता है, को सम्यग्ज्ञान माना है।

'पढम नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान फिर दया-चरित्र और 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः, अर्थात ज्ञान और चरित्र द्वारा ही मुक्ति-लाभ होता है। यह धर्मशास्त्रों की घोषणाएं भी इसी प्रकार के सम्यग्ज्ञान को सूचित करती है।

ज्ञान और क्रिया का साहचर्य श्रेयसिद्धि का मुख्य कारण है। जैसा समझो वैसा ही करो, तभी ध्येय सिद्धि हो सकता है। जानना जुदा और करना जुदा, इस प्रकार जहां विसंवाद होता है वहाँ बड़े से बड़ा प्रयास करने पर भी विफलता ही मिलती है। 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना' अर्थात् क्रिया विना ज्ञान निष्फल है और ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है। यह धर्मोक्ति भी ऐसे ही विसंवादी ज्ञान और क्रिया के लिए कही गई है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जहाँ संवाद होता है वहां ध्येयसिद्धि समीप ही रहती है।

सम्यग्ज्ञान शाश्वत सूर्य है कभी न बुझने वाला दीपक है। उसके चमकते हुए प्रकाश से मात्सर्य, ईर्षा, क्रूरता, लुब्धता आदि अनेक रूपों में फैला हुआ अज्ञान-अन्धकार एक क्षण भी नहीं टिक सकता है।

क्रियाकोड-अनुष्ठान औषध है और सम्यग्ज्ञान पथ्य है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अनुष्ठान अमृत रूप बनकर आत्मा का वैभाविक उन्माद दूर करता है और आत्मा को जागृत करता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि-चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी हुई सुई छोटे से सूत्र-डोरे से युक्त हो तो गुमती नहीं है, इसी प्रकार सूत्र सहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आत्मभाव से वंचित नहीं होता।

धर्मशास्त्र में सम्यग्ज्ञान का प्रभाव खूब वर्णन किया गया है। जैन परिभाषा में जिसे मिथ्याश्रुत कहा गया है उसका पठन वाचन—मनन भी सम्यग्ज्ञानी को अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कारण उसकी दृष्टि विशाल आग्रहरहित, प्रशान्त और नयवाद को समझाने वाली बन जाती है। इसीलिए किसी भी धर्मशास्त्र का संसर्ग उसके लिए अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कवच की बदौलत वह सदा सुरक्षित रहता है। और जैसे गाय घास को दूध रूप में परिणत कर लेती है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी अन्य धर्मशास्त्र को भी हितकर रूप में परिणित कर सकता है और ऐसा करके वह धार्मिक कलह को शांत भी कर सकता है।

चौदह राजू—लोक के जीव मात्र को अभयदान देने की चाबी एक मात्र सम्यग्ज्ञान है। एक पुरुष को सम्यग्ज्ञानाभिमुख करना और चौदह राजुलोक के प्राणीमात्र को अभयदान देना बराबर है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी अद्भुत महिमा है।

आत्मशोधन से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य सम्यग्ज्ञान का सर्वत्र सर्वोपरि स्थान है। मुंडकोपनिषद् में आत्मप्राप्ति का साधन सम्यग्ज्ञान बतलाया गया है कहा है—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं' अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव

पापकर्म नहीं करता। यह धर्मवाक्य भी सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रकट करता है।

मोक्ष—धर्म रूप रथ के सूत्र और चारित्र दो चक्र हैं। इस प्रकार सूत्र और चारित्र अथवा ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष हैं। इसमें से किसी एक की अपेक्षा करने से धर्म-रथ आगे नहीं चल सकता।

जैसे अनुष्ठानहीन कोरे ज्ञान से आत्मशुद्धि नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र, दोनों को जीवन में सरीखा स्थान देने से ही आत्मा बुद्ध और मुक्त बन सकती है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहकर श्री वाचक मुख्य ने भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का भाग बतलाया है।

सूत्रधर्म का आपस में इतना अधिक घना सम्बन्ध है। तो फिर शास्त्रकारों ने दोनों का अलग २ वर्णन किस लिए किया है? यह प्रश्न किसी को हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि धर्मों का परस्पर घना सम्बन्ध है फिर भी दोनों धर्मो का आचार भिन्न है और इसी कारण दोनों धर्मों में भेद भी है।

सूत्र धर्म आधार है और चारित्रधर्म आधेय है। सूत्रधर्म अकेला टिक नहीं सकता। चारित्रधर्म से पहले मनुष्य से सम्यक्त्व आदि रुप सूत्रधर्म के विना चारित्रधर्म नहीं आ सकता।

बहुत से लोग चरित्रधर्म को ही मानते हैं। सूत्रधर्म

उनके लिए किसी गिनती में ही नहीं हैं। सूत्र के अक्षर
लेना, बस इसी को वे पर्याप्त समझ लेते हैं। वास्तव
उनकी यह भयंकर भूल है। जब तक सूत्रधर्म का वाचन
मनन और निदिध्यासन नहीं होता तब तक सूत्रधर्म
मर्म समझा नहीं जा सकता। शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म
महत्व यहां तक बताया है कि अगर सूत्रधर्म का विवि
वाचन, मनन और निदिध्यासन किया जाय तो मनुष्य सं
'परीत' कर सकता है अर्थात् मोक्ष साधना के योग्य
जाता है।

चारित्रधर्म-आचारधर्म का अनुष्ठान करने से पह
सूत्रधर्म अर्थात् विचार-धर्म का पूरा २ ज्ञान होना चाहिये
जब तक यथार्थ वस्तु स्वरूप न जान लिया जाय तब
... अर्थहीन होता है। अनजाने को जानना, जाने
को खोज करना और खोचे हुए को जीवन में उतारना,
जीवनशुद्धि का मार्ग है। जो मनुष्य सूत्रज्ञान की आराध
किये बिना ही चारित्रधर्म का आचरण करता है वह मो
धर्म का मर्म ठीक तरह नहीं समझ सकता और परिण
स्वरूप वह मोक्षमार्ग का अधिकार नहीं बन सकता। इसलि
भगवान् महावीर ने 'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् पह
ज्ञान फिर दया-चरित्र का हितोपदेश दिया है।

सूत्रधर्म का वास्तविक महात्म्य और स्वरूप समझ
के लिए शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म अर्थात् सम्यक्त्व के
आचारों को जीवन में उतारने का उपदेश दिया है। सूत्र

अर्थात् सम्यक्त्व के आठ आचार * इस प्रकार है:—

(१) निःशंका (२ निःकांक्षता (३) निर्बिचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) अपगूहन (६) स्थिरीकरण ७) वात्सल्य (८) प्रभावना

---

* निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वित्तिगिच्छ अमूढ़दिट्ठीय
उमवूह थिरोकरण, वच्छलप्रभावणे अट्ठ ॥

(श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २८, गाथा ३१)

टीका:—शंकित-शंकित देशसर्वशकात्मक तस्याभाओ निःशंकितं एव कांक्षण कांक्षितं युक्तियुक्तत्वादहिंसाद्यभिधायित्वाच्च तदभावो निः कांक्षितम् । प्राग्वदुभयत्र विन्दुलोपः। विचिकित्सा फल प्रति सदेहो यथा किमियतः क्लेशस्य फल स्यादुत नेति ? तन्त्रन्यायेन 'विदः' विज्ञास्ते च तत्त्वतः साधव एवं तज्जुगुप्सा वा यथा-किममी यतयो मलदिग्धदेहाः ? प्रासुकजलस्नाने हि को दोषः स्यादित्यादिका निंदा तदभावो 'निर्विचिकित्सम्' निर्विजुगुप्स वा । आर्षत्वाच्च सूत्र एवं पाठः । अमूढ़ा—ऋद्धिमत्कुतीर्थिकदशनेऽप्यनवगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोह—विरहिता सा चासो दृष्टिश्च बुद्धिरूपा अमूढ़दृष्टि—सचायं चतुर्विधोऽप्यान्तर आचारः । बाह्यास्त्वाह—उववूहत्ति, उपबृंहणमुपवृंहा, दर्शनादिगुणान्वितानां सुलब्धजन्मानो यूय युक्त वम् वद्दाशामिदमित्यादि-वचोभिस्तत्तद् गुणपरिवर्द्धन तच्च, स्थिरीकरण अभ्युपगतधर्मानुष्ठानं प्रति विषोद्रतां स्थैर्योत्पादनमुपबृंहास्थिकरणे । वत्सलभावो—वात्सल्यं साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणं तच्च प्रभावना च-

जैसे हाथ पैर आदि अंगों का वर्णन करने से शरीर का वर्णन हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के आठ अङ्गों का वर्णन करने से सम्यक्त्व-सूत्रधर्म का वर्णन हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान का विकास करने वाले आंतरिक गुण

(१) निःशंका—सम्यग्ज्ञानी ने जिस सम्यक्-धर्म को अंगीकार किया है उसमें शंका न करना। उसमें निःशंक होकर प्रवृत्ति करना। यह सम्यक्त्व का पहला गुण है।

(२) निःकांक्षा—सम्यक् धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो की आकांक्षा न करना और अपने धर्म में अटल रहना और निष्काम भाव से सत्प्रवृत्ति करते रहना, यह सम्यक्त्व का दूसरा गुण है।

(३) निर्विचिकित्सा—सम्यक् धर्म के फल में सन्देह रना, सम्यग्ज्ञानी के आचार-विचार के प्रति अरुचि रखना, उससे घृणा करना, तिरस्कार करना, यह विचिकित्सा दोष है। इस दोष का त्याग करना अर्थात् निर्विचिकित्सा गुण को धारण करना सम्यक्त्व का तीसरा गुण है।

(४) अमूढ़दृष्टित्व—विवेक बुद्धि रखना अर्थात्

तथा स्वतीर्थोन्नतिचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका वात्सल्यप्रभावने उपसंहारमाह-अष्टैतेदर्शनाचारा भवन्तीति शेषः। एभिरष्टाभिराचर्यमाणस्यास्य उक्तफलसम्पादकतेति भावः, एतच्च ज्ञानाचाराद्युपलक्षक, यद्वा दर्शनस्यैव यदाचाराभिधानं तदस्यैवोक्तन्यायेन मुक्तिमार्गमूलत्वसमर्थनार्थमिति सूत्रार्थः।

प्रत्येक बात को युक्त अनुभव या आत्मा की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना, संघधर्म के प्रति सद्भाव रखना, किसी धर्म के प्रति घृणाभाव न रखना और सद्धर्म के प्रति मूढ़तापूर्वक नहीं वरन् विवेक बुद्धिपूर्वक अटल विश्वास रखना यह सम्यक्त्व का चौथा गुण है। यह सम्याज्ञानी के चार आंतरिक गुण है। इस चार गुणों को धारण किये बिना सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता।

सम्यग्ज्ञान का विकास करने वाले बाह्य गुण

(५) उपगूहन–सद्धर्म के मार्ग पर चलने वाले को उत्साहित करना। धर्मनिन्दा का प्रतिकार करना और धर्म–गुण की प्रशंसा करना, यह सम्यक्त्व का पांचवां गुण है।

(६) स्थिरीकरण–जो मनुष्य सद्धर्म से च्युत हो रहा है आपत्ति आने पर या किसी प्रलोभन में पड़कर सधर्म का मार्ग त्याग रहा हो उसे आपत्ति में सहायता करना और प्रलोभन से बचाना और धर्ममार्ग में स्थिर करना, यह सम्यक्त्व का छठा गुण है।

(७) वात्सल्य—जगत् के जीवों और विशेषतः सह–धर्मियों के प्रति वात्सल्य भाव अर्थात् बन्धुभाव रखना और ऐसा प्रयत्न करना जिसने बन्धुभाव में वृद्धि होती है, यह सम्यक्त्व का सातवां गुण है।

(८) प्रभावना—प्रत्येक समुचित उपाय द्वारा धर्मो–द्धार करना, धर्म प्रचार करना और धर्मप्रचार से जन समाज को प्रभावित करके धर्ममार्ग पर लाना यह सम्यक्त्व का आठवां गुण है।

सम्यक्त्व के इन आठ गुणों में चार आन्तरिक गु॰ हैं और चार सम्यक्त्व के द्योतक बाह्य गुणों के आचरण से सम्यक्त्व का प्रकाशन होता है। सम्यक्त्व के आन्तरिक गुणों—निशंका, निःकांक्षा निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि को धारण किये बिना बाह्यगुण—उपगूहन, स्थिरीकरण वात्सल्य और प्रभावना :-प्रकट नहीं हो सकते अथवा फल-वान् नहीं हो सकते।

यह आठ गुण दर्शन के आचार है। इन दर्शनाचारों का आचरण करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल सम्पादन करता है यह आठ आचार-ज्ञानाचार आदि के भी उपल-क्षक हैं। दर्शनाचार मुक्ति का मार्ग है। सूत्रधर्म का सम-र्थन करने के लिए यहां दर्शनाचार का कथन किया गया है यह आठ आचार सूत्रधर्म के भी समझने चाहिये।

निःशंकता—इन आठ आचारों में 'निःशंक बनना' पहला आचार है। जो मनुष्य धर्म के विषय में अथवा किसी धार्मिक प्रवृत्ति में, सन्देह रखता है वह जीवन-ध्येय तक पहुंच सकता। यही निःशंक बनाने का आशय है।

निःशंक बनना अर्थात् दृढ़ विश्वास रखना। यह स्मरण रखना चाहिए कि दृढ़ विश्वास की गन्ध भी नहीं होती। दृढ़ विश्वास सम्यक्त्व का प्रधान अंग है। अगर धर्म में दृढ़ विश्वास को स्थान न दिया जाय तो धर्म का आचरण होना कठिन हो जायगा। दृढ़ विश्वास, धर्मरूपी महल की नींव है। अगर दृढ़ विश्वास रूपी नींव मजबूत न हुई तो शंका कुतर्क आदि के धक्कों से धर्ममहल हिल उठेगा। मगर धर्म में जो दृढ़ विश्वास हो वह अगर

वश्वास में से पैदा नहीं होना चाहिए। जो विश्वास श्रद्धा र्क कसौटी पर चढ़ा हुआ होता है वही सुदृढ़ होता है । तएव दृढ़ विश्वास श्रद्धाशुद्ध और तर्कशुद्ध होना चाहिए। द्धा का जन्म सच्ची जिज्ञासा बुद्धि में से होता है। अतएव जज्ञासा बुद्धि द्वारा धर्मश्रद्धा दृढ़ बनानी चाहिए। धर्म के त्रषय में शंका करने से शंका दोष लगने का भय निर्मल । जो मनुष्य केवल वितंडावाद बढ़ाने के लिए या अपनी र्क शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए शंका की लहरों पर ाचता रहता है वह धर्म का तनिक भी मर्म नहीं समझ कता। जो धर्म के विषय में शंका का निवारण कर लेता वह धर्म का मर्म समझ कर और तदनुसार आचरण रके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है। अलबत्ता वह शंका विश्‌- ास पूर्वक होनी चाहिए।

साहित्य में सशय के सम्बन्ध में भिन्न 2 कथन पाये ाते हैं। एक[1] जगह कहा गया है।

न संशायमनारूह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—मनुष्य जब तक शंका नहीं करता तब तक हि कल्याण मार्ग को नहीं देख सकता।

दूसरे[2] स्थल पर संशय के सम्बन्ध में ऐसी व्याख्या मलती है

संशयात्मा विनश्यति

अर्थात्—संशय करने वाले की ज्ञानादि रूप [3]आत्मा ष्ट हो जाती है ?

---

१ हितोपदेश। २ भगवद्गीता।

३ जैन शास्त्रों में आत्मा आठ प्रकार की है—(१) द्रव्यात्मा (२) कषयात्मा (३) योगात्मा (४) उपयोगात्मा (५) ज्ञाना- मा (६) दर्शनात्मा (७) चारित्रात्मा (८) वीर्यात्मा।

प्रश्न हो सकता है कि यह दो परस्पर विरोधी बातें किस लिए कही गई हैं ? अगर संशय बुरी चीज है तो शास्त्रों में अनेक स्थलों पर श्री गौतम का भगवान् 'जाय-संशय' (जातसंशयः) अर्थात् गौतम को संशय उत्पन्न हुआ, यह बात क्यों कही है ? और यदि संशय अच्छा है तो संशय को सम्यक्त्व का दोष क्यों बतलाया है ? इसका कारण क्या है ?

इसका समाधान यह है। आप लोग (व्याख्यान के समय) जिस मकान के नीचे बैठे हैं, उसकी ऊंचाई, निचाई अथवा उसके गिरने पड़ने की मजबूती देख लेना अपना कर्त्तव्य समझते हो। मगर "बिना परीक्षा किये कहीं मकान पड़ गया तो ?" इस भय के मारे व्याख्यान में सम्मिलित न होओ, यह ठीक नहीं है। इसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति केवली—सर्वज्ञ की अपेक्षा सब कुछ नहीं जान सकता। उसमें से उपयोगी बात जानने के लिए विश्वास पूर्वक संशय करने में दोष नहीं है। पर जो पुरुष भीतर ही भीतर संशय में डूबा रहता है और निर्णय नहीं करता वह 'संशयात्मा विनश्यति' का उदाहरण बन जाता है।

आपको भलीभांति मालूम हैं कि कभी कभी रेलगाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है, जहाज समुद्र में डूब जाता और उससे लोगों को हानि भी हो सकती है। परन्तु हमेशा ऐसा प्रसंग नहीं आता। कभी-कभी ही ऐसी अनिष्ट दुर्घटना होती है ऐसी स्थिति में अगर कोई गृहस्थ यह शंका करके कि रेलगाड़ी और जहाज में बैठने वाले मर जाते हैं, रेल-गाड़ी या जहाज का उपयोग ही न करे तो क्या उसकी यह

का आप उचित समझेंगे ? नहीं।

केवल आपत्ति के डर से किसी काम में हाथ न डालना ाई बुद्धिमत्ता नहीं है कार्य करते समय हानि-लाभ का चार और विवेक अवश्य होना चाहिये पर प्रारम्भ से, सी कार्य को शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। नुष्य निर्णयात्मक बुद्धि से जितना अधिक विचार करता उसे उतना ही अधिक गम्भीर रहस्य समझ में आता है।

कौन जाने परमात्मा है या नहीं ? यह साधु है नहीं ? अथवा साधु द्वारा बतलाये हुए उपायों से पर-ात्म-पद की प्राप्ति होगी या नहीं ?' इस प्रकार की शकाएं करके जो मनुष्य इष्ट देव और धर्म पर आस्था हीं रखता, वह क्षण क्षण में अपने हृदय में शंकाए उत्पन्न रता अन्त में शंका बन जाता है और उसकी ज्ञानात्मा, ानदृष्टि से निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

अगर कोई कहे कि जैनशास्त्र सत्य हैं, इस बात की ष्टि में क्या कोई प्रमाण हैं। यह प्रश्न ठीक है।

मैं आपसे पूछता हूं-पांच और पांच कितने होते हैं ? दस।

अगर कोई गणितशास्त्र का एम.ए.आपसे कहे कि ांच और पांच ग्यारह होते हैं तो क्या आप उसकी बात ान लेंगे ? कदापि नहीं। अगर वह कहे कि मैंने गणित एम.ए. पास किया है, इसलिए मेरी बात प्रमाणभूत है, आप उसे क्या उत्तर देंगे ? आप कहेंगे—इस विषय में ारा अनुभव है। यही नहीं, हमें विश्वास भी है कि पांच र पांच मिलकर दस ही होते हैं। तुम ग्यारह बताकर

र्वज्ञ क्यों माना जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मैंने उन्हें भूगोल रचने कारण परमात्मा नहीं माना है, परन्तु अहिंसा, सत्य ादि मंगलमय धर्म के प्ररूपक होने से परमात्मा माना है। नका बतलाया हुआ भूगोल-खगोल, आधुनिक भूगोल-गोल के साथ मिलान नहीं खाता तो, उसके लिए ऐसा ाई साधन मेरे पास नहीं है जिससे यह बताया जा सके ; उन्होंने किस विशिष्ठ विचार से भूगोल-खगोल की चना की थी। पर अहिंसा का सिद्धान्त, जो मेरे अनुभव सत्य और पूर्ण कल्याणकारी साबित हुआ है, उसके ाधार पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि अहिंसा, त्य आदि सिद्धान्तों का प्रणेता कदापि असत्य भाषण नहीं र सकता।

अहिंसावादी अणुमात्र असत्य भाषण को भी आत्मघात रने के समान समझता है। पूर्ण अहिंसावादि आत्मा का ात, जो एक प्रकार की हिंसा हो कैसे कर सकता है ?

तब प्रश्न होता है, अब उनका रचा हुआ भूगोल-गोल आधुनिक भूगोल-खगोल से क्यों नहीं मिलता ? वह त्य क्यों नहीं जान पड़ता ? यह बात नीचे लिखे उदाह-ण से स्पष्ट होगी।

हवा को किसी थैली में भरकर अगर सोना-चाँदी ोलने के कांटों से तोला जाय तो हवा में कुछ भी वजन हीं मालूम पड़ता यह वैज्ञानिकों का कथन है कि वायु में जन है और यह वजन तोला भी जा सकता है। हमें

है। विज्ञान के विकास के साथ जैनधर्म का रहस्य जन-समाज की समझ में आता जायगा।

जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझने के लिए अनेकांत-वाद चाबी है। आज धर्म का जो सत्य स्वरूप भूला जा चुका है उसका प्रधान कारण अनेकान्तवाद की अवगणना है। अनेकान्तवाद की चाबी से जब जैनधर्म का प्रवेश द्वार खोला जायगा तभी जैनधर्म का साक्षात्कार होगा।

एक प्रश्न जो सारे संसार को गड़बड़ में डाल रहा है यह है कि अहिंसा अगर कल्याणकारिणी हैं तो अहिंसा-धर्मी जनों की अवनति क्यों हुई? प्रश्न सही है, क्योंकि जनों की अवनति हो रही है। भारत में अहिंसा पालने वाले बहुत हैं। दूसरे वादों में भले ही मतभेद हो, पर शैव, विष्णव, जैन आदि सभी धर्मों ने 'अहिंसा परमो धर्म' स्वीकार किया है। तो अहिंसा प्रधान भारत देश की अवनति क्यों हुई?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अहिंसाधर्म आचर-णीय धर्म है। इसका पूर्णरूप से पालन करने वाले बहुत थोड़े हैं और वे भी नाम मात्र के हैं।

अहिंसा धर्म का पालन वीर पुरुष ही कर सकते हैं, अगर आज मनुष्यों में डर घर कर गया है। जो मनुष्य डरपोक है वह अहिंसाधर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता। जब तक मनुष्य सम्यक् प्रकार से अहिंसा का पालन करना न सीखे तब तक कभी उन्नति होने की नहीं, पर बात सुनिश्चित है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझ कर, आत्मोपम्य की भावना की उन्नति में ही मानव-समाज की सच्ची उन्नति है।

अगर वैषम्य ही वास्तविक उन्नति है अर्थात् गरीबों के जीवन-मरण का विचार न करके, चाहे जिस उपाय से उनका धन हड़प कर तिजोरियां भर लेना ही उन्नति का आदर्श है, तो जो मनुष्य दगाबाजी करके, सट्टा करके धनोपार्जन कर रहे हैं, वे भी उन्नति कर रहे हैं, यह मान लेना पड़ेगा। मगर इस प्रकार छलकपट करके, धन लूट लेने को उन्नति मान लिया जाय तो कहना होगा अभी हम उन्नति का अर्थ ही नहीं समझ पाये हैं।

आज विश्व में विषमता के कारण जीवन मृतप्राय हो रहा है। जहां देखो वहीं भेदभाव, विषमता, उच्च-नीच की भावना फैली हुई। इसी कारण दुःख और परिद्रता की वृद्धि हो रही है। जगत् को इस दुःखी अवस्था में उबारने का एक ही मार्ग है और वह है समानता का आदर्श। समानता के आदर्श का अनुकारण करने में ही सच्चा सुख है।

एक अहिंसावादी मर भले ही जाय पर अन्यायपूर्वक किसी का प्राण-धन हरण नहीं करता और एक दूसरा मनुष्य किसी का जीवन लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, तो इन दोनों में आप किसे उन्नत समझेंगे ? अहिंसावादी को।

अहिंसा-धर्म का ठीक-ठीक रहस्य न समझ कर, अथवा अहिंसावादी कहला कर भी हिंसक कृत्य करने से अवनति न होगी तो क्या उन्नति होगी ?

आज मन्दिरों, तीर्थो और अन्य धर्म स्थानों में धर्म के नाम पप जो अत्याचार एवं अनाचार हो रहे हैं उन कुकर्मों का फल क्या विना मिले रहेगा ! भारत वर्ष प्रपने ही कुकर्मों का अवनति के गड़हे में गिरा है । अब तक मनुष्यों में सत्य, शील, सदाचार आदि गुणों का अंश अव-शिष्ट है वह सब पूर्वजों का ही प्रताप है । हम लोग तो अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित धर्म-सम्पत्ति का व्यय ही कर रहे हैं । हमने कुछ नवीन उपार्जन करके उसे बढ़ाया नहीं है । मगर आज अनुष्य जितने परिमाण में अहिंसापालन, तपश्चरण आदि प्रशस्त क्रियाएं करते हैं उतने परिमाण में वे संसार को कल्याणमार्ग की ओर ले जाने के लिए अपने जीवन का सदुपयोग कर रहे हैं ।

कहा जा सकता है कि जैनधर्म में दो प्रकार की अहिंसा क्यों कही गई है ? जैसा कि कुछ *लोग कहते हैं—'जीवों को न मारना अहिंसा है मगर मरते हुए जीवों को बचाना पाप है ।'

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिन्हें अहिंसा का ठीक २ अर्थ नहीं मालूम वे कुछ भी क्यों न कहें, पर सारा संसार जानता है कि अहिंसा शब्द हिंसा का विरोधी है । जिस कृत्य से विचार से या वाणी से हिंसा का विरोध हो वह अहिंसा है । इसके विपरीत जिस कृत्य आदि से अहिंसा का विरोध हो वह हिंसा है ।

मान लीजिए, एक आदमी किसी दूसरे निरपराध

---

*ऐसी अटपटी मान्यता श्वे० तेरापंथी सम्प्रदाय की है।

मनुष्य पर तलवार का प्रहार करने के लिए उद्यत हो रहा है। अगर कोई तीसरा पुरुष उपदेश द्वारा उसे उस दुष्ट कृत्य से रोकता है तो उसका रोकना हिंसा का विरोध करना कहलाएगा।

हिंसा का विरोध करना अहिंसा है, यह पहले कहा जा चुका है। अतएव जो मनुष्य हिंसा को रोकता है। अर्थात् हिंसा का विरोध करता है वह निश्चित रूप से अहिंसक ही है फिर भी अगर कोई हिंसक कहे तो उसे क्या कहना चाहिए? वास्तव में ऐसा करने वाला असत्यभाषी है।

रक्षा करने वाला हिंसक या पापी है ऐसा कोई भी बुद्धिमान पुरुष नहीं कह सकता।

रावण, सीता का शील हरण करने को उद्यत हुआ। विभीषण ने उसे रोका। इन दोनों में कौन 'कुशील कहलाएगा? रावण। और विभीषण? शीलवान् कहलाएगा।

अगर सीता के शील की रक्षा करने के कारण कोई विभीषण को कुशीलवान कहे तो क्या यह न्याययुक्त कथन होगा? नहीं।

अगर हमारी ऐसी मान्यता है और वह सर्वथा न्यायसंगत है तो जो मनुष्य 'मत मरो' कह कर हिंसा का निषेध करता है उसे हिंसक बतलाना क्या उचित है? हर्गिज नहीं।

इस विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि जो लोग अहिंसा का अर्थ सिर्फ न मारना कहते हैं और बचाना हिंसा मानते हैं वे बड़ी भूल कर रहे हैं।

अहिंसाधर्म संसार में सर्वोत्तम धर्म है। यह धर्म स्वाभाविक एवं आत्मानुभव सिद्ध है। इसमें संदेह को अवकाश ही नहीं है।

सारांश यह है कि कौन बात कितनी हद तक सत्य है, यह विचार पहले ही कर लेना चाहिए। जिसमें संशय हो उसका निर्णयात्मक बुद्धि से विचार कर संशय दूर कर लेना चाहिए। परन्तु धर्म नामक तत्त्व है या नहीं! इस प्रकार के संदेहों को अन्तःकरण में स्थान देना चाहिए। जो पुरुष इस प्रकार का सन्देह करता है उसकी आत्मा ज्ञानदृष्टि से सो जाती है—नष्ट हो जाती है इसके विप- जो पुरुष निर्णयात्मक बुद्धि से अपनी शंकाओं का निवारण रता है वह सत्पथ पर आरूढ़ होकर, अग्रसर होकर आत्म- सिद्धि का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

कांक्षा का अर्थ है इच्छा करना। अन्य धर्म का दर्शन और निःकांक्षा उसकी धर्मक्रिया देख कर, स्वधर्म का परित्याग करके अन्य धर्म को ग्रहण करने की इच्छा करना 'कांक्षा' कहलाता है। यह सम्यक्त्व का दोष है और इच्छा या कांक्षा न करना सम्यक्त्व का अंग है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में ऐसा कौनसा जीव है जिसे किसी प्रकार की कांक्षा न हो? जिस पुरुष को किसी भी प्रकार की कांक्षा नहीं होती वह छद्मस्थ नहीं, वीतराग है छद्मस्थ को तरह-तरह की कांक्षाएं होती हैं। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि को किसी वस्तु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए?

इसका उत्तर यह है कि जो स्वधर्म के देव और गुरु के सिवाय अन्य धर्म के देव और गुरु की कांक्षा करता है उसका सम्यक्त्व दूषित हो जाता है।

प्रश्न उठता है--स्वधर्म की सभी बडाई करते हैं। सब कहते हैं—हमारे धर्म को मानो, हमारे गुरुओं की वन्दना को और किसी दूसरे को मत मानो।

गीता में कहा है:—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात्—स्वधर्म में रहते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर है मगर परधर्म भयंकर है।

जब तक स्वधर्म और परधर्म का ठीक—ठीक निर्णय न हो जाय तब तक वस्तुतत्त्व समझ में नहीं आ सकता। अतएव सर्व प्रथम यही निश्चय करना चाहिए कि स्वधर्म से क्या अभिप्राय है और परधर्म का क्या आशय है?

धर्म के दो भेद हैं:—एक तो वर्णधर्म और दूसरा आत्मिक-धर्म। यदि धर्म का इस प्रकार वर्गीकरण करके उसका स्वरूप न समझ लिया जाय तो अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़े।

जैसा कि अभी बतलाया गया है, गीता का कथन है कि यदि अपने धर्म में कुछ कठिनाइयां हो और दूसरे धर्म में सरलता दिखाई देती हो तो भी पर—धर्म को न अपना कर अपने धर्म के लिए प्राण दे देने चाहिए।

क्या इसका मतलब यह है कि एक शराबी शराब

पीना अपना धर्म समझता है, शराब के बिना उसका काम नहीं चलता तो शराब के लिए उसे प्राण दे देने चाहिए? नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है। राजा प्रदेशी को, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे और जिसने जीव-हिंसा करना ही अपना धर्म मान रक्खा था, क्या मुनि के उपदेश से हिंसा का त्याग नहीं करना चाहिए था? तो स्वधर्म के लिए प्राण तक न्योछावर कर देने का आशय क्या है?

मैंने जहां तक विचार किया है तथा अन्य विद्वानों के विचार सुने हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि यहां धर्म शब्द का तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म के साथ है यहां अपने वर्ण धर्म पर डटे रहने का उपदेश दिया गया है।

वर्णाश्रम धर्म के विषय से अगर ऐसा कड़ा उपदेश न दिया जाय तो संसार की व्यवस्था ठीक न रहती। ब्राह्मण को ब्राह्मण धर्म पर, क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म पर, वैश्य को वैश्यधर्म पर, शूद्र को शूद्रधर्म पर कायम रहना चाहिए। मगर इस कथन का आशय यह भी नहीं है कि विद्याध्ययन करना ब्राह्मण का धर्म है इसलिए क्षत्रिय को विद्याध्ययन से बचकर अशिक्षित ही रहना चाहिए। अथवा क्षत्रिय का धर्म वीरता धारण करना है अतएव ब्राह्मण को निर्बल एवं कायर रहना चाहिए। वैश्य का धर्म व्यापार करना है और शूद्र का सेवा करना है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वैश्य की स्त्री का कोई अपहरण कर ले जाय तो वह वीरता के अभाव में मुंह ताकता खड़े रहे या शूद्र विद्या के सर्वथा अभाव के कारण यथोचित सेवा धर्म का पालन ही न

कर पावे ।

याद रखना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में चारों गुणों का होना अत्यावश्यक है। उनके बिना जीवन का यथोचित निर्वाह ही नहीं हो सकता। अगर प्रत्येक वर्ण वाले में चारों गुण होना आवश्यक है तो वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार निभेगा ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम में प्रवीण नहीं होता। वह किसी एक ही काम में विशिष्ट योग्यता और सफलता प्राप्त कर सकता है। इसी पर वर्ण का निर्माण किया गया है।

मान लीजिए एक क्षत्रिय युद्ध में लड़ने गया। वहां वह कुछ कठिनाइयां देखकर बनिया बन जाने की कांक्षा करता है। वह सोचता है—बनिया बन जाऊंगा तो मौत की अजीविका से बच जाऊंगा और आराम से जीवन बिता सकूंगा। इस प्रकार की कांक्षा नीचे कांक्षा है। ऐसी कांक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। उसे गीता के विधान का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्य पर, अपने धर्म पर हंसते-हंसते प्राण निछावर कर देने चाहिये।

जिस समय वीर अर्जुन को रण में लड़ने के समय त्यागी ब्राह्मण बनने की कांक्षा हुई तो श्री कृष्ण ने कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप !

हे पार्थ ! इस क्लीवता-नपुंसकता को हटाओ। तुम सरीखे बहादुर क्षत्रिय के लिए यह शोभा नहीं देता। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग करके तैयार हो जाओ।

तब यह स्पष्ट है कि वर्णाधर्म की अपेक्षा स्वधर्म का धर्म है— परम्परागत कर्त्तव्य। संकट पड़ने पर उसका त्याग करना स्वधर्म का त्याग करना है और दूसरे वर्ण के कर्त्तव्य को ग्रहण करने की अभिलाषा करना 'कांक्षा' है।

जैसे वर्णधर्म के पक्ष में कांक्षा दोष है इसी प्रकार आत्मिकधर्म के पक्ष में भी 'कांक्षा' दोष है। जो दर्शन या शास्त्र संग्राम और शाश्वत सत्य का निरूपक न करके अपूर्ण सत्य की ओर ही संकेत करते हैं और जिनमें पूर्वा-पर विरोधी बातों का समावेश है जिसका प्रणेता सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है, ऐसे दर्शनों की आकांक्षा करना कैसे उचित कहा जा सकता है? इसी कारण निःकांक्षता' सम्यक्त्व का अंग माना गया है।

वास्तव में 'कांक्षा' एक ऐसा विकार है, जिसके संसर्ग से तपस्वियों को घोर तपस्य और धर्मात्माओं के कठोर से धर्मानुष्ठान भीकलंकित हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को कांक्षाहीन होकर ही कर्त्तव्य करना चाहिये। जो कांक्षाहीन वृत्ति वाले के लिए मोक्ष दूर नहीं रहता। मगर फल की आकांक्षा करने पर मनुष्य न इधर रहता है, न उधर का रहता है।

आज समाज में काम करने से पहले उसके फल की इच्छा रखने वाले बहुत हैं। कितनेक ऐसे हैं जो काम कुछ भी नहीं करना चाहते पर फल के लिए मुंह फैलाये बैठे रहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण कर्त्तव्य भ्रष्ट होकर लोगों का घोर पतन आरम्भ हो गया है। समाज में अगर निस्पृहता

से काम किया जाय तो काम करने वाले के साथ ही-साथ समाज़ का भी जल्दी उत्थान हो सकता है। सच्चे सम्यग्दृष्टि में ऐसी निस्पृवृत्ति होनी चाहिए।

निर्विचिकित्सा:—धर्म में बुद्धि स्थिर न रखने से और मन को डावांडोल स्थिति में छोड़ रखने से और धर्म-अधर्म का विवेक जागृत नहीं होता। विवेक–बुद्धि के जागृत न होने से, धर्म की उपलब्धि नहीं होती और अधर्मबुद्धि का नाश नहीं होता। अतएव स्वधर्म पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए और परधर्म में मोहवुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

निर्विचिकित्सा का अर्थ है— धर्मकृत्य के फल में संन्देह करना। अगर कोई मनुष्य विचार करे कि मैं धर्म-पालन के लिए इतना कष्ट झेल रहा हूं सो इसका फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार फल में संशय करना विचिकित्सा है। अथवा मुनियों का तन मलिन देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा दोष है। जैसे– यह मुनि शरीर को क्यों इतना मलीन रखते हैं ? अगर अचित्त जल से स्नान कर लें तो क्या हानि है ?

शंका और विचिकित्सा में क्या अन्तर है ? इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त सम्बंधी संशय शंका दोष कहा गया है और कर्त्तव्य के फल सम्बन्धी सजग को विचिकित्सा दोष माना गया है।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा रखना मन की दुर्बलता है। सर्वज्ञ को वाणी में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए। जो पुरुष सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म के फल में सन्देह करता है

वह अज्ञान है। एक लौकिक उदाहरण से यह बात अधि स्पष्ट हो जायेगी। एक विद्याधर ने किसी मनुष्य आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा कर ली मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उस विशेष काम लेता। अन्त में मरते समय उसने अपने लड़ को वह विद्या सिखलाई और कहा—बेटा, यह विद्या मैं सि कर चुका हूं। इसमें सन्देह मत करना पिता का देहा हो गया।

जब कुछ समय बीत गया तो लड़के ने सिद्ध हुई विद्या की परीक्षा का विचार किया। वह पिता कथानुसार सब सामग्री लेकर जंगल में गया। वहां वड़ नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कड़ाई जमाई औ चोरासी तारों का एक छींका बनाकर सूत के धागे बांधकर पेड़ को डालियों पर लटका दिया।

भट्टी में आग जलाकर, जब तेल खौलने लगे मन्त्र को पढ़ते-पढ़ते छींके में बैठना था और एक- बार मन्त्र बोलकर एक--तार कटते जाना था। यद्यपि विद्या उसके पिता की आजमाई हुई थी और किसी प्र के संशय का कोई कारण न था, फिर भी लड़का बहुत डरा वह सोचने लगा--मैं छींके पर चढ़ूं और छींका टूटकर जाय तो मैं सीधा कढ़ाई में आ रहूंगा—जल मरूंगा।

इधर लड़का इस पशोपेश में पड़ा उधर नगर राजमहल में चोरी हुई। बहुतसा जेवाहरात आदि चला गया। सिपाही चोर के पीछे पड़े। ढूंढते-ढूंढते आ चोर दिखाई दिया अब चोर आगे-आगे भागता जाता

और सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। चोर जंगल में पहुंचा। उसे वह लड़का दिखाई दिया। सिपाही जंगल को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये।

चोर ने लड़के से पूछा—भाई, क्या कर रहे हो? लड़के ने उत्तर दिया—मुझे धन चाहिए। धन प्राप्त करने के लिए अपने पिताजी द्वारा सिद्ध की हुई विद्या से आकाश में उड़कर धन लेने जाऊंगा। पर भय लगता है— कहीं कढ़ाई में न गिर पड़ूं?

चोर ने कहा—तुम्हें धन चाहिए लो, मेरे पास बहुत सा धन है। मुझे अपना मन्त्र सिखा दो।

लड़का धन लेकर फूला न समाया। उसने चोर को मन्त्र सिखा दिया। चोर बेखटके छींके में जा बैठा। वह एक बार मंत्र बोलता और एक तार काट देता। तब तार कट गये तो सर-से आकाश में उड़ गया। लड़के ने सोचा-पिताजी का बताया मन्त्र सच्चा था। मगर मुझे धन की आवश्यकता थी और वह मिल गया। तब जान जोखिम में डालने की क्या आवश्यकता है? अरुणोदय हुआ। पूर्व दिशा में लाली छा गई। कुछ-कुछ प्रकाश फैलने लगा। सिपाही झाड़ी में दाखिल हुए। उन्होंने चोरी के माल के साथ लड़के को पकड़ लिया।

लड़का हैरान था। कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने कहा मुझे आप क्यों पकड़ते हैं? मैंने अपराध क्या किया है।

सिपाही—चोरी का माल पास में रख छोड़ा है और पूछता

है—क्यों पकड़ते हो ?

लड़का—चोरी का माल ? यह चोरी का है ? मुझे एक आदमी ने दिया है और वह आकाश में उड़ गया है।

सिपाही—चल, रहने भी दे। अब भी हमें उल्लू बनाना चाहता है। आदमी कहीं आकाश में उड़ते होंगे ! साला कहीं का !

लड़के के होश उड़ गये। वह पश्चात्ताप करने लगा कि अगर मैंने पिताजी के वचनों पर विश्वास किया होता तो यह दिन नहीं देखना पड़ता।

तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ का सर्वज्ञ भगवान् की बातों में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिए, लौकिक सुख-सुविधा आदि के विचार से पर-धर्म की कांक्षा न करनी चाहिए और धर्मकरणी के फल में संशय न रखना चाहिये।

(4) अमूढदृष्टि—परधर्मावलम्बियों को ऋद्धिसम्पन्न देखकर जिसके मन में यह व्यमोह उत्पन्न नहीं होता है कि 'यह ऋद्धिसम्पन्न है अतएव इसका धर्म श्रेष्ठ है और मेरा धर्म निकृष्ट है' वह अमूढदृष्टि कहलाता है। सम्यक्त्व का चौथा आचार है।

जो मनुष्य किसी की बाह्य ऋद्धि देखकर सोचता है—'यह गुरुजी तो कोई चमत्कार नहीं बताते। जिसमें ऐसी मूढतापूर्णदृष्टि कहलाता है।

धर्माचरण का फल आत्मशुद्धि है। उसे भूलकर

धनधान्य आदि भोगोपभोग की सामग्री की प्राप्ति में धर्म की सफलता मानता है और किये हुए धर्माचरण का फल पाने के लिए अधीर हो जाता है वह मूढ़ नहीं तो क्या है।

सम्यग्दर्शन वह ज्योति है, जिसे उपलब्ध कर मनुष्य विवेकमयी दृष्टि से सम्पन्न बन जाता है। जहां सम्यग्दर्शन होगा वहां मूढ़ दृष्टि को अवकाश नहीं रहता।

ऊपर बताये हुए चार आचार सम्यक्त्व के आंतरिक आचार हैं अर्थात् इन आचारों का हृदय में आचरण किया जाता है। यह चारों आचार व्यक्तिगत आंतरिक मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। सम्यग्दर्शन का दिव्य दीपक जब अन्तःकरण में आलोकित हो उठता है तब अन्तरङ्ग में उल्लिखित चार विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। अन्तरङ्ग में विशेषता आना अनिवार्य है। उन विशेषताओं को चार बाह्य आचार कहते हैं। वे इस प्रकार है—(५) उपवृंहणावृत्ति (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

(५) उपवृंहणावृत्ति-किसी के धार्मिक उत्साह की किसी भी उचित उपाय से वृद्धि करना उपवृंहण कहलाता है। जैसे अगर कोई सम्यग्दर्शन गुण से विभूषित है तो उसके गुण देखकर उसे उत्साहित करना-'आपका जन्म सफल है, आप सरीखे सत्पुरुषों को यही उचित है।' इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के सद्गुणों में अपना प्रमोदभाव व्यक्त करना और उसे धर्म के प्रति उत्साहित करना 'उपवृंहण या उपबृंहण या उपवृंहा' है।

(६) स्थिरीकरण—स्वीकार किये हुए धर्म के अनु-ष्ठान करने में जिसे विषाद-शोक होता हो, स्थिर करना अर्थात् उसे धर्म में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है। इस प्रकार सम्यक्त्व से डिगते हुए को सम्यक्त्व में स्थिर करना भी स्थिरीकरण है।

कहा भी है:—

दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थिरीकरणमुच्यते॥

अर्थात्—धर्मप्रेमी पुरुष, सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से विचलित होने वाले सहधर्मी को दर्शन-चारित्र में स्थिर करता है, इसी को स्थिरीकरण कहते है।

धर्म में पुनः स्थिर करने के दो मुख्य मार्ग हैं—प्रथम धर्म में अस्थिर बने हुए को धर्म का उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरे असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

यह कहा जा सकता है कि असहाय को सहायता देने से किसी न किसी प्रकार के आरम्भ की सम्भावना है। यह कहना ठीक है परन्तु सम्यग्दृष्टि आरम्भ को आरम्भ मानता है। फिर भी अगर कोई पुरुष धर्म में स्थिर होता है तो यह महान् सम्यक्त्व का आचार है। इस आचार में पाप नहीं है वरन् धर्म है।

वात्सल्यभाव—वात्सल्य आचार में अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। गाय जैसे अपने बछड़े पर प्रेमभाव रखती है, उसी प्रकार सहधर्मी पर निस्वार्थ प्रेम रखना वात्सल्य आचार

: । वात्सलय गुण यद्यपि हृदय की लोकोत्तर विभूति है,
ेर यह व्यवहार में आये बिना नहीं रहता । उसे व्यवहार
ाने के अनेक द्वार हैं । जैसे किसी श्रावक की एक
ा है । उसने विचार किया—मुझे अपनी कन्या का
ह करना है । पर किसी सहधर्मी के साथ विवाह हो
अच्छा है, क्योंकि धर्मप्राप्त होना कठिन है, और धर्म
श्रद्धा रखने से जैसा मुझे अलौकिक आनन्द और सन्तोष
ता है, उसी प्रकार उसे भी मिल सकेगा । धर्म के
उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी साथ ही एक सहधर्मी
को गृहस्थ धर्म के पालन में सहायता मिलेगी । इसी
र बाजार से कोई चीज खरीदनी है तो सहधर्मी की
न से खरीदना, सहायक नौकर की आवश्यकता हो तो
ाथम सहधर्मी को ही अवसर देना और सोचना कि
र्मी भाई होगा तो काम काज में भी सहायता मिलेगी,
: धर्म में भी सहायता मिलेगी, साथ ही सहधर्मी की
री दूर हो जायगी । यह वात्सल्य गुण है । वात्सल्य
धारी सम्यग्यदृष्टि विवाह आदि कृत्यों में भी सहधर्मी-
लय का विचार रखता है ।

प्राचीन काल में स्वधर्मी वात्सल्य का गुण कितना
कसित था, यह बात नीचे लिखे ऐतिहासिक उदाहरण
स्पष्ट समझ में आएगी:—

बहुत वर्षों पहले की बात है मांडलगढ़ नाम की
ाल नगरी थी । वहां के जैन स्वधर्मीवात्सल्य पालन
ना जानते थे । सभी समान थे, सभी स्वधर्मीबन्धु थे ।
सब मिल-जुल कर रहते और विकास करते थे ।

उनका सामाजिक जीवन भी बड़ा उन्नत था। रोटी-बेटी का सबका सबके समान व्यवहार था। दस्सा बीसा, ओसवाल पोरवाल आदि के भेदभाव ने उ: एकता के बीच में कोई दीवार खड़ी नहीं की थी। । जिनके उपासक, सभी स्वधर्मी भाई। भेद क्यों होता यह सुनकर आश्चर्य होगा, पर कहा जाता है कि वे । लखपति थे और वहां एक लाख घरों की जैनों की थी।

यह कपोल-कल्पित कहानी नहीं है। इसके आधा भूत ऐतिहासिक प्रमाण है। आज भी एक सरीखे अ मकानों की पंक्ति—थोड़े-थोड़े अन्तर पर नालछाप से ले मांडलगढ़ तक छः मील की लम्बाई में खण्डहरों के रू खड़ी हुई महत्वपूर्ण अतीत-आलीन आदर्श की साक्षी रही है। वह खण्डहरों की माला जैनों के विगत ऐ की और उनके स्वधर्मीवात्सल्य की अनबोलती मूर्ति । वास्तव में पहले वह जैनपुरी थी आजकल वह धार रि यत के अन्तर्गत है। वहां के गरीब और राज्य की भीलों के लिए आज भी वह आश्वासनदायक स्थान है एकसे मकानों की बनावट को देखकर आज अतीत का हूबहू चित्र आंखों के आगे खड़ा हो जाता है।

एक सरीखे मकानों की बनावट क्यों है ? इस का उत्तर यह है कि वहां सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य था। लोगों में एक पुरानी कहावत है—'सात-पांच की ला एक जन का बोझ' यह कहावत मांडलगढ़ में विशे प्रयोग में लाई जाती थी।

मांडलगढ़ के जैनों में यह नियम प्रचलित था कि अपना कोई स्वधर्मी भाई नया नया आवे तो प्रत्येक घर से एक रुपया और एक ईंट से उसका स्वागत किया जाय। वहां एक लाख घर थे अतएव आने वाला सीधा लखपति और सुन्दर मकान का मालिक बन जाता था। इसे कहते हैं जैन समाज का स्वधर्मीवात्सल्य।

इस प्रकार स्वधर्मीवात्सल्य की आराधना करने से अनायास ही समानता उत्पन्न होती है और यह समानता उत्पन्न होती है और यह समान्ना सच्ची विश्वव्यापी मानवता में से प्रादुर्भूत होती है और मानवता का अधिक से अधिक प्रचार तथा विकास ही जनसंस्कृति का आदर्श हैं।

इसका अर्थ यह समझा जाय कि सब जैनों को लखपति बन जाना चाहिए। अगर समस्त जैन लखपति बन जाय तो दूसरी प्रजा क्या करेगी? अपरिग्रह जैनों का प्रधान व्रत है और उसे जावन में स्थान मिलना चाहिए।

जहां सच्ची बान्धववृत्ति है, वहां संगठन सहज ही हो जाता है, और जहां बन्धुत्वपूर्ण सामाजिक जीवन और महामूल्यमयी स्वतन्त्रता है वहीं सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य का गुण विकसित होता है।

जहां पति-पत्नि में विचारों की विभिन्नता होती है, धार्मिक मतभेद होता है, या विभिन्न विचारों के स्वामी सेवक होते हैं, वहां विचारों का विभेद दो हृदयों के बीच पर्दे की तरह पड़ा रहता है। वह पर्दा हृदयों के मिलन में बाधक बन जाता है। कभी इस विचार विभेद का परिणाम

अत्यन्त भयंकर होता है। यही कारण है कि स्वधर्मी
साथ सम्बन्ध करने से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है

सारांश यह है कि स्वधर्मी को देखकर हृदय में प्रे
का झरना बहने लगे और अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं
उसकी सहायता की जाय, यह वात्सल्य गुण कहलाता है

यह वात्सल्य गुण भी सम्यक्त्व का आचार है। इस
सम्बन्ध में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है।

(८) प्रभावना—अपने धर्म के अभ्युदय के अर्थ प्रवृ
करना अथवा जैनधर्म की प्रभावना करने वाले कार्य कर
प्रभावना अंग है।

कहा भी है:—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥

अर्थात्—जनता में फैले हुए अज्ञान अन्धकार के वि
तार का निवारण करके जिन शासन का महात्म्य प्र
करना प्रभावना है।

सुनते हैं, पहले करोड़ों जनधर्मानुयायी थे। उन्हें त
वार के बल पर या डरा धमका कर जैन नहीं बनाया ग
था। परन्तु तत्कालीन जैनों के वात्सल्य और प्रभावना गु
से प्रभावित होकर अन्य धर्मानुयायी लोग जैनधर्मानुया
बने थे और जैन धर्म का पालन करते थे।

आजकल भी अगर जैन लोग अपना चरित्र आ

बनावें और साथ ही वात्सल्य एवं प्रभावना गुण को जीवन में विकसित करें तो निस्संदेह जैनधर्म का गौरव फिर बढ़ सकता है। जैनों का आचार विचार अगर विशुद्ध बन जाय और वह अन्य लोगों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें तो लोग जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होंगे और तीर्थङ्करों के पवित्र मार्ग से अधिक से अधिक अपना हित साधन कर सकेंगे।

स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कहा है कि प्रवचन प्रभावना के निमित्त पात्र अपात्र को दान देने वाला दाता तृतीय भंग (विकल्प) का दाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कभी २ अपात्र को दान देने से भी तीर्थङ्करों के मार्ग की प्रभावना होती है। अर्थात् दान के प्रभाव से अपात्र अर्थात् दान के प्रभाव से अपात्र अर्थात् सूत्र-चारित्रधर्म से हीन सामान्य प्रकृति के मनुष्य को जैनधर्मानुयायी बनाया जा सकता है इससे तीर्थंकारों का मार्ग भी उज्ज्वल हो सकता है।

पर ऐसा करने में जो खतरा है उसे भी समझ लेना चाहिए। दान देकर जैन बनाने का अर्थ यह नहीं कि किसी को घूंस के रूप में दान दिया जाय और दान के प्रलोभन में फंसा कर जैन बना लिया जाय। ऐसा करना आत्मवंचन होगा दूसरे के अन्त:करण में लालच उत्पन्न कर देना भी एक बुराई है। मेरे कथन का आशय यह है कि किसी की वास्तविक आवश्यकताओं को समझ कर उन्हें रफा कर देना और इस प्रकार उसे अपनी और अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर लेना अनुचित नहीं, पर प्रलोभन देना सर्वथा हेय है।

अँधा, लूला-लंगड़ा आदि असहाय जनों को दान देने

से संसार पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ सकता है, ऐसा शि
देता है। संसार पर इस प्रकार का प्रभाव डालना भी जै
धर्म की प्रभावना है।

जो लोग दान देना पाप कहते हैं, वे प्रवचन प्रभाव
का ठीक २ अर्थ नहीं समझते।

सूत्रधर्म के यह आठ आचार हैं। आठों का आचर
करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल का सम्पादन करता है
यही आठ आचार चारित्रधर्म के भी उपलक्षक हैं। इ
आठ आचारों का पालन करने से चारित्रधर्म का पाल
होता है।



[९]

चारित्रधर्म-आचारधर्म

(चरित्तधम्मे)



संसार की अन्य प्रजा की अपेक्षा, हमें जिस वस्तु की ाधिक आवश्यकता है, यह-है चारित्र का विकास ।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः ।' जब विचार आचार के रूप में परिणत होता है तब जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है । चारित्रशुद्धि ही जीवन्मुक्ति का उत्तम उपाय है ।

मानव-जीवन की चरम साधना क्या है ? किस लक्ष्य पर पहुंच जाने पर यह चिरयात्रा समाप्त होगी ? मनुष्य की अन्तिम स्थिति क्या है ? यह ऐसे गूढ़ प्रश्न है, जिन पर विचार किये बिना विद्वान का मस्तिष्क मानता नहीं है और विचार करने पर भी उपलब्ध कुछ होता नहीं है । इन और ऐसे अन्य प्रश्नों का समाधान दर्शन-शास्त्र के पृष्ठों पर लिखे अक्षरों से नहीं हो सकता । मस्तिष्क वहां काम नहीं कर सकता । जिसे समाधान प्राप्त करना है वह चारित्र की सुरम्य वाटिका में विहार करें । चारित्र की आराधना बिना मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता ।

जिन ज्ञानी पुरुषों ने चारित्र की वाटिका में वि
कर वहां के सौरभ का आस्वादन किया है और उन्हें
मस्तिष्क की क्षमता बढ़ाई है वरन् सबने एक स्वर
जीवन का चरम और परम उद्देश्य राग-द्वेष से मु
होना माना है । राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए प्रत्ये
मनुष्य को उनके मूल का विचार करना चाहिए और
राग-द्वेष को निर्मूल करने के लिए पुरुषार्थ का आश्र
लेना चाहिए ।

विचार, मनन, निदिध्यासन, चिन्तन आदि सूत्र
के पर्यायवाची शब्द हैं और आचार, प्रयत्न, पुरुषार्थ आ
चारित्र-धर्म के पर्यायवाचक शब्द हैं ।

'पढमं नाणं तओ दया' 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां वि
'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः', इत्यादि आर्यसूत्र मुक्ति प्राप्त क
के लिए सूत्रधर्म और चारित्रधर्म के साहचर्य की घोष
करते हैं ।

सूत्रधर्म के सम्बन्ध में पहले विस्तारपूर्वक विवे
किया गया है । चारित्रधर्म-आचारधर्म के विषय में विच
करना हैं ।

चारित्रधर्म का सामान्य अर्थ है आचारधर्म ।
आचारधर्म का मतलब है—संस्कारिता या क्रियाशील
व्यक्तियों में त्यागी और गृहस्थ के दो वर्ग दिखाई देते है
अतएव उनकी स्थिति के अनुसार आचार धर्म भी दो
में बँट गया है । कोई-कोई आचारधर्म का पूर्णरूपेण पा
करते हैं और कोई आंशिक रूपेण । आचार धर्म को

रूप पालने वाले त्यागी या अनगार कहलाते हैं और आंशिक रूप से पालने वाले अगारी गृहस्थ या श्रावक कहलाते हैं।

सूत्रकारों ने चरित्रधर्म के मुख्यतया दो विभाग किये हैं:—

चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-अणगारचरित्तधम्मे, आगारचरित्तधम्मे य।-स्थानांगसूत्र,

अर्थात्—अनगार—त्यागी का आचारधर्म और गृहस्थ का आचारधर्म, इस प्रकार चारित्रधर्म दो प्रकार का है।

त्यागी-धर्म

सूत्रकारों ने संक्षेप में त्यागी का धर्म दस प्रकार का बतलाया है—दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तंजहा—

(१) खंती (२) मुत्ती (३) अज्जवे (४ मद्दवे (५) लाघवे (६) सच्चे (७) संजमे (८) तवे (९) चियाए (१०) बंभचेरवासे।

अर्थात्—श्रमणधर्म त्यागीधर्म दस प्रकार का वह इस प्रकार:—

(१) क्षमा—अगर कोई अप्रिय एवं कटुक वचन कहे या प्रतिकूल व्यवहार करे तो भी क्षमा रखना—क्रोध न करना।

(२) मुक्ति-बाह्य और आन्तरिक बन्धनों से मुक्त रहना।

(३) आर्जव-मन, वचन, कार्य की कुटिलता का परि-

त्याग कर ऋजुता-सत्यता धारण करना।

(४) आर्दव-अहवृत्ति का त्याग कर मृदुता धारण क

(५) लाघव-आन्तरिक और बाह्य क्रोध मान, म लोभ का आन्तरिक त्याग करके लघुता धारण करना, बड़प्पन से दूर रहना।

(६) सत्य सत्यवादी बनना, असत्य, अप्रिय, संदि अस्पष्ट और गोलमोल वचन न बोलना।

(७) संयम-संयम धारण करना-इंद्रियदमन करना।

(८) तप-अनशन आदि बाह्य तपस्या तथा प्राय श्चित आदि आन्तरिक तपस्या करना।

(९) त्याग-त्यागपरायण बनना इन्द्रिय के वि भागों के प्रति विरक्ति धारण करना।

(१०) ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्यमय जीवन यापन करना।

इस प्रकार के इस श्रमणधर्म में पांच महाव्रत पां समिति तीन गुप्ति, सत्तरह प्रकार का संयम, बाईस परी सत्ताईस साधुगुण आदि-आदि साधु के विशेष धर्म का में समावेश किया गया है। इन दस धर्मों को क्या और क्या बौद्ध—प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने रूप में स्वीकार किया है। पर जैन मुनियों को इन का दृढ़ता पूर्वक पालन करना पड़ता है, जबकि अन्य

---

*धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

सख्ती नहीं देखी जाती ।

गृहस्थधर्म

गृहस्थ धर्म को दो विभागों में विभक्त किया जाता । एक सामान्य धर्म, दूसरा विशेष धर्म ।

गृहस्थ का सामान्यधर्म

गृहस्थ का सामान्यधर्म जैन ग्रन्थों के ही शब्दों में द्धृत करना उचित होगा । वह इस प्रकार है:—

१] सामान्यतो गृहस्थधर्मो न्यायतोऽनुष्ठानमिति ।
न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सामान्यधर्म है ।

२] न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोक हितायेति ।
न्याय से उपार्जित धन इस लोक में भी हितकर होता है और परलोक में भी ।

३] तथा समानकुलशीलादिभिर्गोत्रजैरेव वाह्यम् ।
गृहस्थ को समान कुल, समान शील तथा भिन्न और गोत्र में उत्पन्न होने वालों के साथ ही विवाह सम्बन्ध करना चाहिए ।

[४[शुद्धकलत्रलाभफलो विवाह स्तत्फलं च सुजातसुतसन्ततिः अनुपहतचिन्तनिवृत्तिः गृहकार्यसुविहित्त्वं, अभिजात्याचार विशुद्धत्वं, देवातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं चेति ।

विवाह का फल कुलीन—पवित्र स्त्री की प्राप्ति होना

है । कुलीन स्त्री की प्राप्ति का फल है—चित्त की स्वस्थ
सुचारु रूप से गृहकार्य सम्पन्न होना, आचार की शुद्धि
और देव, अतिथि, बन्धुजन आदि का यथोचित सत्कार
करना ।

(५) तथा उपप्लुतस्थानत्याग इति ।
उपद्रव-जनक स्थान में न रहना ।

(६) तथा आयोचितो व्ययः ।
गृहस्थ को आमद के अनुसार खर्च करना चाहिए ।

(७) तथा प्रसिद्धदेशाचार पालनमिति ।
गृहस्थ को अपने देश के आचार का पालन करना
चाहिये ।

(८) तथा मातृ–पितृपूजेति
गृहस्थ को माता–पिता, धर्मगुरु आदि का आदर-सत्कार
करना चाहिए ।

(९) तथा सात्म्यतः कालभोजनमिति ।
गृहस्थ को शरीर की रक्षा–निरोगता के लिए यथासमय
भोजन करना चाहिए ।

(१०) वेगव्यायामस्वापस्नानभोजनस्वच्छन्दवृत्तिकालान्
परुन्ध्यात् ।
गृहस्थ को शौच, व्यायाम्, निद्रा, स्नान, भोजन आदि
नित्य कृत्यों का शरीर रक्षा के निमित्त कभी उल्लं-
घन नहीं करना चाहिए ।

(११) शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ।
शरीर को परिश्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया 'व्यायाम' कहलाती है।

(१२) शास्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलेत् ।
शस्त्र-वाहन–दण्ड–बैठक आदि के अभ्यास से व्यायाम सफल होता है।

(१३) आदेहस्वेदं व्यायामं कान्तमुशन्त्याचार्याः ।
आचार्यों का कथन है कि शरीर में पसीना आने तक पायाय करना उचित है।

(१४) अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निप्रदीपनमुत्सोहो देहदार्ढ्यंच ।
जो लोग व्यायाम नहीं करते उनकी अग्नि प्रदीप्त कैसे हो सकती है? उनमें उत्साह कहां से आयगा? उनकी देह सुदृढ़ कैसी होगी?

(१५) श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ।
थकावट, पीसीना और आलस्य का नाश होना स्नान का फल है।

(१६) स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ।
गृहस्थों के लिए स्वच्छन्दवृत्ति–स्वाधीनता परम रासायन है।

यहां स्वच्छन्दवृत्ति की उच्छंखलता के भाव में ग्रहण रना उचित नहीं है। स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ— स्व-आत्मा छन्दविषय में, वृत्ति–विचारना है।

गृहस्थ को आत्मा के हित के निमित्त देव, गुरु और

धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उनके लि यही अद्वितीय शांति स्थान है। इन्हीं के सेवन से सच्ची शांति का लाभ होता है और यही सांसारिक दुःख निवारण करने के लिए परम औषध है।

गृहस्थ जब उल्लिखित मार्गानुसारी रूप सामान्य धर्म का यथोचित पालन करता है, तभी वह गृहस्थ के विशे धर्म का पालन करने में समर्थ होता है। लगभग इन्हीं नीति रूप गुणों का उल्लेख अन्यत्र इस प्रकार किया गया है:--

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रीवर्ग भजन्,
अन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधि दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

अर्थात्—श्रावक न्यायपूर्वक धनोपार्जन करे, गुणों में बड़े जनों का सत्कार-सम्मान करे, मधुर व प्रशस्त वाणी का प्रयोग करे, एक दूसरे से विरोध न करते हुए धर्म, अर्थ काम का सेवन करे, अपने योग्य गृहणी और स्थान वाला हो, लज्जाशील हो, उचित आहार-विहार करे आर्य पुरुषों की संगति करे, हिताहित का विवेकी हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रियों की ओर मन को वश में रक्खे, दयावान् हो, पापभीरु हो और धर्मोपदेश का श्रवण करता हुआ श्रावक धर्म का पालन करे।

गृहस्थ का विशेष धर्म

जीवन को संस्कारमय बनाने के लिए सर्व प्रथम नीति गुणों की आवश्यकता है। नीति की नींव पर ही धर्म

महल खड़ा किया जा सकता है। अतएव नीति गुणों को जीवन में स्थान देना गृहस्थ का सामान्य धर्म है। नीति-गुणों के साथ ही साथ बारह प्रकार के धार्मिक गुणों का ध्यान देना गृहस्थ का विशेष धर्म है।

धर्म प्रधानतः श्रद्धा की वस्तु है। श्रद्धा के विना धर्म का पालन नहीं होता। अतः गृहस्थ को शंका—कांक्षा आदि धर्मबुद्धि का नाश करने वाले दोषों को दूर करके, विश्वासपूर्वक धर्मपालन में दृढ़ बनना चाहिए।

धर्मश्रद्धा को सुदृढ़ बनाने के बाप गृहस्थधर्म को जिन बारह व्रतों का पालन करना चाहिए उनका संक्षिप्त स्वरूप यह है:—

[१] अहिंसाव्रत—

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—स्थूल प्राणातिपात से विरत होना। गृहस्थ को इस प्रकार यतना सावधानी से प्रत्येक कार्य करना चाहिए। जिससे अपने चित्त में किसी त्रस जीव को कष्ट न पहुंचाने या उसका प्राण हरण करने का संकल्प उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। वध, बंध आदि हिंसाजनक प्रवृत्तियों से बचते हुए प्रत्येक कार्य करना चाहिए। यह गृहस्थ का अहिंसा व्रत है।

[२] सत्यव्रत—

थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं—स्थूल असत्य भाषण से विरत होना। अर्थात्-गृहस्थ जिस बात को जिस रूप में जानता या मानता हो उसी रूप में वह दूसरे से कहे। लाभ की आशा से या भय आदि की भावना से उस बात में तनिक

भी फेरफार न करे। लोकमय नैतिक निर्बलता, लोकैः आदि दुर्गुणों को दूर रखकर हँसी दिल्लगी.प राई निः कोरी गप्पों आदि प्रयोजन होन बातों में अपनो व णाः दुरुपयोग न करे। इस प्रकार वचन सम्बन्धो असत्याः से निवृत्त होकर सत्यप्रवृत्ति करना गृहस्थ सत्यव्रत है।

[३] अचौर्यव्रत—

थूलओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं—स्थूल अदत्तादान विरत होना। अर्थात् जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जि अधिकार पर अथवा जिस यश-कीर्ति पर वास्तविक अधि कार न हो उस वस्तु आदि को नोति का भंग करके लेना। किसी की किसी वस्तु पर अपना अनुचित अधिक न जमाना और चोरी न करना गृहस्थ का अचौर्य व्रत है

[४] ब्रह्मचर्यमर्यादा व्रत–स्वपत्नीसन्तोषव्रत

थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं—स्थूल मैथुन से वि होना। अर्थात् गृहस्थ को अपने वीर्य का अपनी और दूस की अनेक प्रकार का उन्नति में उपयोग करना चाहिए पाशविक वृत्तियों के पोषण में वीर्य का दुरुपयोग नहीं कर चाहिए वीर्य वह शक्ति है जिसके प्रताप से उच्च श्रेणी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यह बात ध्यान रखते हुए अखंड ब्रह्मचारी बनने का निरन्तर प्रयास कर चाहिए। अगर इतना सम्भव न हो तो अपने विच के अनुरूप सहधर्मिणी खोजकर, उसी में सन्तुष्ट रह चाहिए अगर ऐसा कोई पात्र न मिले जो परस्पर अनु रहकर एक दूसरे के विकास में सहायक हो तो अविवाहि

रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। विवाहित जीवन, जो चहुंओर दौड़ने वाली मनोवृत्तियों को नियंत्रित–केन्द्रित करने के लिए उपयोगी है, अगर दोनों में से किसी एक को असंतोष का कारण बन जाय तो दूसरा हानिकारक हो जाता है। अतएव विवाहित जीवन बनाने से पहले शक्ति, अपने विचार अपनी स्थिति और पात्र की योग्यता, इन सब बातों का विचार कर लेना उचित है। विवाह करना मनुष्य का मुख्य नियम है और अविवाहित रहना अपवाद है, इस धारणा को बदलने की आवश्यकता है। अविवाहित रहते हुए स्व पर का अभ्युदय–साधन करना और यदि सब प्रधान बातों की अनुकूलता हो तभी विवाह करना चाहिए, यह नियम मानव–समाज के लिए अधिक से अधिक हितकर है विवाहित जीवन का विषय वासना की मर्यादाहीन स्वतंत्रता के के रूप में भूलकर भी न समझना चाहिए। विवाह का उद्देश्य विषय भोग में डूबना नहीं है, वरन् विषय वासना से विरत होना है।

गृहस्थ को विषयवासना का संकोच और आत्मिक ऐक्य करना सीखना चाहिए और अश्लील शब्दों से, दृश्यों से, और अश्लील कल्पनाओं से दूर रहना चाहिए।

जो विवाह के उद्देश्य नहीं समझते और न एक दूसरे के प्रति अपने सहचरता के पवित्र कर्त्तव्य को ही पहचानते हैं, उन अज्ञान व्यक्तियों को आपस की गुलामी की स्थिति में डालने वाला व्यक्ति चौथे व्रत को भंग करता है, दया का खून करता है। इस प्रकार इन्द्रिय–निग्रह में सजग रहना यह गृहस्थ का चौथा व्रत है।

भोग-उपभोगपरिमाण—भोगों और उपभोगों का ाण करना। अर्थात् गृहस्थ को भोजन आदि भोगों लालस मर्यादित करनी चाहिए।

गृहस्थ को आदत से सादा, आत्म संयमी, नियमित मिताहारी बनना चाहिए।

आवश्यकताएं जितनी ही कम होगी, चिन्ताएं, उपा- ं, लालच और परेशानी उतनी ही कम होगी और वपूर्ण प्रवृत्तियों की तरफ लक्ष्य देने का अधिक अवकाश गा।

देखादेखी, खानदानी का खोटा विचार, बड़प्पन ाने की मूर्खतापूर्ण लोलुपता और गुण-दोष को समझने बुद्धि का अभाव, यह सब ऐसी बाते हैं जिससे अनेक श्यक कमियां और आवश्यकताएं उत्पन्न हो जाती हैं। आवश्यकताओं से शारीरिक निर्बलता, मानसिक अप- ता और बुद्धिहीनता पैदा होती है। अतएव सच्ची श्यकता के अनुसार ही उपभोग—परिभोग रखना त है-अधिक नहीं। अपनी वास्तविक आवश्यकताओं धिक भोगोपभोग की सामग्री न रखना गृहस्थ का ोपभोग परिमाण व्रत है।

अनर्थदंड त्याग—

अणट्ठादंड वेरमणं—अनर्थदंड से विरत होना। अर्थात् स्थ को निरर्थक व्यापार में-प्रवृत्ति में-मन, वचन, काया लगातार उचित नहीं है। इसी प्रकार प्रयोजनहीन पट में, निन्दा में, दुर्ध्यान में, चिन्ता में, कुकर्म में, खेद

[५] परिग्रहमर्यादा-इच्छापरिमाण व्रत ।

थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं – स्थूल परिग्रह से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को परिग्रह का अथवा ममत्व तथा तृष्णा का संकोच करना चाहिए। मैं सभी कुछ भोगूं, मैं करोड़पति बनूं, मैं महलों का मालिक बनूं इस प्रकार अहंकारमय, स्वार्थमय, संकीर्ण विचारों को यथासम्भव दूर करना चाहिए।

इस व्रत का उद्देश्य यह नहीं है कि – घर-द्वार छोड़ कर फकीर बन जाओ, भूखे मरो या कुटुम्ब का भरण पोषण न करो' पर इसका उद्देश्य यह है कि लोभ, मोह, ममत्व और जड़ पदार्थों की प्राप्ति में ही आनन्द मनाने की वृत्ति का त्याग करो। अपने आश्रितों की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए प्रमाणिकता को त्याग कर अप्रमाणिकता का आश्रय न लो। अपनी इच्छा को सीमित करो। इच्छाओं के पीछे पीछे अविराम गति से दौड़ न लगाओ, वरन् इच्छा को अधीन बनाओ। परिग्रह में जितनी कम मूर्छा होगी, चित्त शान्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होगी। इस प्रकार परिग्रह–बुद्धि का त्याग कर संतोष वृत्ति धारण करना गृहस्थ का परिग्रहमर्यादा व्रत है।

[६] दिशपरिमाण व्रत ।

दिशपरिमाण—दिशाओं सम्बन्धी मर्यादा करना। अर्थात् गृहस्थ को निष्प्रयोजन, निरुपयोगी, परमार्थहीन भ्रमण, जितना कम हो सके उतना कम करना चाहिए।

[७] भोगोपभोगमर्यादा व्रत।

करने और न करने से ज्यादा अन्तर नहीं है।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पापमय क्रियाओं से निवृत होकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष क्रिया ही करना चाहिए। इस प्रकार सावद्य क्रिया का त्याग कर समभाव प्राप्त करने का अभ्यास करना श्रावक का सामायिक व्रत है।

(१०) देशावकाशिक व्रत —

क्षेत्र या देश सम्बन्धी मर्यादा करना देशावकाशिक व्रत है। गृहस्थ को यथासम्भव स्वदेश से बाहर से मंगाई हुई वस्तु का उपभोग नहीं करना चाहिए। स्वदेश प्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को भूखे मारने में सहायभूत न बनना भी गृहस्थ का देशावकाशिक व्रत है।

(११) प्रतिपूर्ण पौषधव्रत—

गृहस्थ को प्रतिमास, कम से कम एक बार, अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थिति अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर निरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घन्टे आत्मरमण करते हुए व्यतीत करने चाहिए। इस व्रत के लिए विशेषतः अष्टमी, चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व तिथियां अधिक उपयुक्त है।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत—

गृहस्थ को अपने उपकारी पुरुषों की सेवा-भक्ति

रने का प्रसंग मिले तब उल्लासपूर्वक उनकी सेवा करनी
ाहिए। जो पुरुष जगत् का उपकार करने में ही अपना
ीवन व्यतीत कर रहे हैं जिन्हें अपने शरीर की सार
म्भाल करने तक की फुर्सत नहीं मिलती, उसके अस्तित्व,
ारोग्य और प्रवृत्ति की जगत् को अत्यन्त आवश्यकता होने
: उनकी आवश्यकताएं जानना और उन्हें पूर्ण करने में
त्पर रहना, उपकृत वर्ग का कर्त्तव्य है।

उन्होंने जिस मिशन को उठाया है, उसे निभाने के
लए आवश्यक शरीरबल, द्रव्यबल, समय, बुद्धि परिचय
ादि के द्वारा हिस्सा लेना, उनकी कठिनाइयों, संकटों
और दुखों को सहानुभूति के साथ दूर करने का जितना
न सके उतना प्रयास करना, उनके जय में अपना और
माज का जय मानना यह गृहस्थ का अतिथिसंविभाग
त है।

इस प्रकार नैतिक-धर्म सामान्य-धर्म के साथ ब्रह्म-
र्य विशेष धर्म का पालन करने में गृहस्थ जीवन का
िकास और साफल्य है।

व्रतधर्म के पालन से गृहस्थ जीवन को सुसंकृत बनाने
वाद श्रमणधर्म को स्वीकार करके राष्ट्र, समाज और
र्म का कल्याण-साधन करते हुए आत्मकल्याण के लिए
ागमय जीवन व्यतीत करने में ही मानव जीवन की चरम

श्रावक के आचारधर्म पर विस्तार पूर्वक प्रकाश
लने वाला पूज्य श्री का व्रत साहित्य अलग प्रकाशित
चुका है। जिज्ञासु पाठक इससे लाभ उठावें।

सफलता है ।

मानव जीवन को सफल बनाने के लिए चारित्रध
आचार धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है । सभी ध
में एक मत से आचारधर्म की आवश्यकता स्वीकार की



[१०]

जीवन धर्म

[अस्थिकाय धम्मे]



'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई ।'

'समस्त प्राणियों के प्रति मेरा बन्धुभाव है । मे
किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है ।' यह विश्वबन्धुत्व
जीवन का आदर्श है ।

अस्ति शब्द का मूल सत शब्द है । सत् अर्थात् होत
जीवन का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाना अस्तिक
धर्म है । इसे जीवन धर्म भी कहा जा सकता है । स
वृत्तियों के द्वारा जीवन को सत्यमय बनाना, असत्य
साक्षात्कार करने के लिए सदा उद्योग करते रहना जी

का वास्तविक धर्म है ।

जो व्यक्ति संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता आदि धर्म गुणों को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लेता है वही व्यक्ति जीवनधर्म-आत्मधर्म को सांगोपांग जीवन में उतार सकता है ।

जीवनधर्म का मर्म समझने का अर्थ है आत्मा को पहचानना । ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि धर्म जीवन के अंग उपांग हैं । जहां तक समानता का आदर्श जीवन में नहीं उतरता वहां तक आत्मा की पहचान नहीं होती और समानता का आदर्श जीवन में उतारने के लिए सब से पहले जीवन में मानवता प्रकट करनी पड़ती है । जब मानवता प्रकट होती है तब मानव का ध्येय मंत्र बन जाता है मैं मानव हूं । मुझे मानवता समझनी चाहिए और मानव के लिए ही जीवित रहना चाहिए, क्योंकि सभी धर्म महान् हैं किन्तु मानवधर्म उन सब में महान् है ।

जिसके जीवन में, रग रग में मानवता व्याप जाती है वह मानता और समझता है कि धर्म मात्र मानव के लिए हैं । मानव को अधिक संस्कारी-अधिक सुन्दर, अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए धर्म है । अतएव जहां धर्म का पालन करने में मानव के प्रति अन्याय होता हो वहां धर्म को साधन रूप मानकर उसकी पुनर्योजना करना उचित है।

तमाम धर्म मानवधर्म सीखने का साधन हैं । जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना

सिखलाता है वह धर्म नहीं है । धर्म में ऐसी वातों को स्थान नहीं है ।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने आपको ऊंचा ठहराने को कोशिश करे बल्कि इसलिए कि वह वास्तव में ऊंचा वने । धर्म-पालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्वबन्धुत्व का भाव मुख्य होता है । "मत्ती में सव्वभूएसु बेर मज्झ ण केणई" अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है । जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान् मानवधर्म भी सरल और सादा है । इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता अगर तुम अपनी बिमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है ।

अगर मनुष्य इतना सीधा-साधा मानवधर्म समझ ले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म सम्बन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा धर्म सम्बन्धी विधि-विधान खोजने के लिए उसे इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा । मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं; फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की मांग करती है।

ावनधर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्वबन्धुता
ाखना है।

आत्मा को पहचानना अथवा जीवन धर्म का मर्म
मझ लेना सरल काम नहीं है। क्योंकि मानवसमाज युग
ान्तर से, वासनाओं अज्ञानताओं, सम्मूढ़ता, अश्रद्धा
ादि आन्तिरिक शत्रुओं द्वारा बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा
हीं अधिक पीड़ित है, त्रस्त है चिरंतन वासनाओं पर
ाजय प्राप्त करना साधारण मनुष्य के लिए सरल नहीं
। आत्मविजय के लिए जीवनोत्सर्ग करने की क्षमता,
ासीम अहिंसा त्याग, ज्ञान, तप आदि आत्मिक बल की
पेक्षा है। आत्मबल के अभाव में जीवन-युद्ध नहीं खेला
ा सकता। अतएव आत्मबल के द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक जीवन
द्ध करके, विकार-शत्रुओं को पराजित करके, दुर्दम आत्मा
ा दमन करना लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा अधिक
हत्वपूर्ण है। *संसार को आत्मविजय का जय-नाद सुनाने
ला और स्वतन्त्र का राजमार्ग दिखलाने वाला जय-शील
र्म ही जैन धर्म कहलाता है।

जीवन में जैनत्व प्रकट करना आत्म-गवेषणा की
ा चाबी है, क्योंकि जैनधर्म विश्वविजेता का धर्म है,
त्मविजय करके सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए विकार विजयी
ीय वीरों का विजय धर्म जैनधर्म है। युद्ध में वीरता
खलाकर, विजेता के रूप से क्षत्रिय वीर प्रसिद्ध हैं, मगर

---

*जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणज्ज अप्पाणं एस से परमों जओ ॥उत्तराध्ययन९

उल्लिखित विजयमन्त्रों के आधार से जैन धर्म का ुख्य सिद्धांत इस प्रकार फलित होते हैं।

(१) आत्मस्वातन्त्र्य-अहिंसावाद--छोटे बड़े सभी ाणियों की आत्मा स्वतन्त्र है। किसो को किसी की स्वतन्त्रता छीनने का कोई अधिकार नहीं है। कीड़ी से ुंजर तक सभी छोटे-छोटे जीवधारी आत्मस्वातन्त्र्य की ष्टि से समान है। अतएव किसी भी प्राणी को स्वार्थ के ख़ातिर, मोक्ष प्राप्ति या धर्म के बहाने से मारने का, लिदान करने का, घात करने का अथवा उसे कष्ट देने ा किसी को अधिकार नहीं है।

सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नहीं चाहता। भी निर्भय रहना चाहते हैं। अतएव निर्भय रहो, दूसरों ो निर्भय बनाओ और निर्भय बनने वालों की मदद करो। हिंसा परमोधर्मः' इस सनातन धर्म का मूल आत्मस्वा-न्त्र्य के इसी सिद्धान्त में निहित है। आत्मस्वातन्त्र्य या हिंसावाद का यह पहला विजयमन्त्र है।

(२) कर्मवाद—निसर्गतःस्वाधीन आत्मा कर्म-बन्धनों जकड़ कर पराधीन हो रहा है। कर्मा की बेटो काटकर राधीन आत्मा को स्वाधीन बनाना मानव पुरुषार्थ की ार्थकता है। किसी भी प्रकार की पराधीनता के आगे, ाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक हो, नत मस्तक नहीं ोना चाहिए। यही नहीं साक्षात् ईश्वर की भी पराधीनता ंगीकार करने योग्य नहीं है। जहां स्वाधीनता है वहां ुख है। दुःख कौन चाहता है? सभी सुख चाहते दिखाई ेते हैं। तो शाश्वत सुख की अभिलाषा करने वाले को कर्मों

की पराधीनता हटानी चाहिए । सुख दुःख मनुष्य के हाथ में हैं । कृत कर्म के अनुसार सुख दुःख की प्राप्ति होती है । कोई अलौकिक शक्ति सुख दुःख नहीं देती । कर्म के प्रताप से ही आत्मा दुःखी होती है । ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता चलता है त्यों आत्मा सुखी बनती जाती है ।

(३) संघशक्ति-संघधर्म-जीवनसंग्राम में विजयी प्राप्त करने के लिए ऐक्यबल या संघशक्ति की परमावश्यकता है । ऐक्यबल के बिना जीवन की साधना दुष्कर हो जाती है, अतएव संघशक्ति की बड़ी आवश्यकता है। संघबल एकत्र करना आत्मविजय प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है ।

(४) समन्वयबुद्धि-अनेकान्तवाद-अपने विरोधियों को वू में करने का और साथ ही उनके प्रति न्याय करने का अमोघ साधन अनेकान्तवाद है । वह विरोधी पक्ष को समझने समझाने. का और अपने पक्ष को परिपूर्ण एवं सुदृढ़ बनाने का प्रबल साधन है । अनेकान्तवाद अपने विरोधियों को भी अमृतपान कराकर अमर बनाता है अनेकान्तवाद को सीधी सादी भाषा में विवेकबुद्धि या समन्वयबुद्धि कहा जा सकता है । विवेक की गैरमौजूदगी में धर्म, अधर्म बन जाता है और अनेकान्त दृष्टि के अभाव में भी धर्ममय कृत्य, अधर्ममय बन सकता है अनेकान्त विचार वृक्ष का सुफल है । अनेकान्तवाद जैनधर्म की विशेषता है फिर भी संसार का कोई विचारक उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं कर सकता ।

अनेकान्तवाद, अज्ञान का अन्धकार दूर करके ज्ञान का प्रकाश करता है । इससे विजय प्राप्त होती है । अहिंसा

और अनेकान्तवाद का संगम आत्मविजय के लिए अनिवार्य है।

(आत्मविश्वास—विजयकांक्षी बन कर आत्मविश्वास पूर्वक प्रयत्न करना आत्मविजय का मूल मन्त्र है। आत्मविश्वास को जैन परिभाषा में 'सम्यक्त्व' कहा जाता है। विश्वास के अभाव में आत्म-विजय होना संभव नहीं है। आत्मशक्ति में सम्पूर्ण विश्वास के साथ प्रवृत्ति करते चलने में ही आत्मविजय है। बाहर की किसी भी शक्ति का भरोसा रख कर प्रवृत्ति करने से आत्मविजय है। बाहर की किसी भी शक्ति का भरोसा रख कर प्रवृति करने से आत्मविजय प्राप्त नहीं हो सकती। याद रक्खो कोई भी जड़ शक्ति तुम्हारे भीतर प्राण नहीं डाल सकती।

जिसे आत्मविश्वास प्राप्त है वह विश्वविजेता बन सकता है। जो धर्म विश्वविजय का ऐसा अमोघ विजय-मन्त्र सिखलाता है, वह धर्म किसी एक फिरके का नहीं मानव मात्र का सम्पूर्ण जगत् का धर्म हो तो इसमें आश्चर्य ही कैसा है?

जिस धर्म का अनुसरण आत्मा जैसी अमर–अगोचर वस्तु का वैज्ञानिक दृष्टि से साक्षात्कार करता है, वह धर्म जगत् को विश्वमैत्री एवं निर्वैरवृति के द्वारा स्नेह के सूत्र में बांद दे और वैज्ञानिक सत्य का सफलतापूर्वक अन्वेषण करके जगत् को नवीन आविष्कारों से चकित करे, वह स्वाभा-विक है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में विश्वबन्धु अर्थात् 'जैनत्व" प्रकट हो जाता है वह जीवनधर्म आत्मध को साक्षात करता है। वह अनखोजे की खोज करके खोजे हुए को जीवन के साथ एकरस करके आत्मशुद्धि प्रा करता है।

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

सब जीव सुखी हों। सब जीव निरोग हों। सब कल्याण हो। कोई दुखः का भागी न हो। जीवनधर्म यह ध्येय मन्त्र है।

शास्त्र में अस्तिकाय धर्म की परिभाषा इस प्रकार ई है।

अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशि-रस्ति कायः!
एव धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकाय धर्म

अर्थ प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय धर्म कहते तद्रूप जो धर्म है वह जीव और पुद्गल को गतिपर्या धारण करता है, इसलिए अस्तिकाय धर्म कहलाता है।

यहां टीकाकार ने पांच अस्तिकायों में से केवल धर्म स्तिकाय को ही अस्तिकाय धर्म गिनाया है।

श्री भगवती सूत्र में नाम के साधर्म्य से धर्म धर्मास्तिकाय को पर्यायवाची गिना है। इसी कारण टीक कार ने भी यहां अस्तिकायधर्म में धर्म। शब्द के साथ धर्म स्तिकाय को ही उदाहरण स्वरूप बतलाया है। धर्मास्ति

को धर्म का सहधर्मी बताने का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मास्तिकाय गति सहायक द्रव्य है। अतएव कर्म का नाश करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता अपेक्षित है। शायद इस अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक गिना हो।



पूर्ति

परिशिष्ट (१)

धर्म और भ्रम

(१)

—:※:—

[दस धर्मों को ठीक तरह समझने के लिए यहां जो परिशिष्ट दिये जा रहे हैं उनमें से अधिकांस संकलित हैं और कुछ नवीन लिखे गये हैं। आशा है पूर्वोक्त धर्मों की संकलना समझने में यह सहायक होंगे]

जैसे खान में सोने के साथ मिट्टी मिली रहती है वैसे ही धर्म के साथ लोकभ्रम मिला रहता है। धर्म का व्यापक अर्थ सनातन सम्बन्ध अथवा नियम है। जलाना अग्नि का

धर्म है। भूख लाना प्राणी मात्र के देह का धर्म है। बालक को प्यार करना माता का धर्म है। बहुमत के आधीन होना संघ का धर्म है। इन्द्रियों पर विजय करना आत्मा का धर्म है। स्वार्पण करना हृदय का धर्म है। उपर्युक्त समस्त विज्ञानों में न्यूनाधिक परिणाम में धर्म का ही अर्थ घटित होता है।

मौलिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धों के यथार्थ दर्शन पर धर्म की रचना की गई है।

जब तक मनुष्य इन शाश्वत नियमों को समझ नहीं लेता तब तक झूठी कल्पनाएं करता रहता है! उन्हीं को धर्म मान बैठता है।

अग्नि की ज्वाला शान्त होने पर जैसे अग्नि में धुआं निकलता है उसी प्रकार जब मनुष्यबुद्धि और मनुष्य हृदय जड़ बन जाता है और आत्मजागृति मन्द हो जाती है, तब इस तरह भ्रम उत्पन्न होते हैं।

नास्तिकता के पानी से लोक भ्रम रुपी हृदय की अग्नि शान्त करना सच्चा उपाय नहीं है। सच्चा उपाय यह है कि ऐसे अवसर पर जिज्ञासा और अनुभव की फूंक से धार्मिकता सचेत की जाय और धर्म की ज्योति फिर जाज्वल्यमान की जाय।

धर्मशिक्षण और धर्म के गहरे चिन्तन-मनन से लोक भ्रम का नाश और धर्म का उदय होता है। अज्ञान और भय-लालच धर्म के कट्टर शत्रु है क्योंकि धर्म का नाश करने वाला लोकभ्रम अज्ञान और भय से ही उत्पन्न होता है।

ऋषि मुनि या धर्मसंस्थापक जब तक अपनी श्रद्धा और अपने अनुभव की बात कहते हैं, जब तक उसमें शुद्ध सत्य अथवा सनातन धर्म का वास होता है परन्तु जब वे अथवा उनके अनुयायी जितने अंश में अपनी रूढ़ मान्यताओं और कल्पनाओं को असावधानी से अनजान से या जानबूझ कर धर्म में मिला देते हैं, उतने ही अंग में उस धर्म में अशुद्धि आ जाती है और जब धर्म के अन्धे अनुयायी उस अशुद्ध धर्म को पकड़ बैठते हैं तब धर्म-सेवकों के हाथ से ही धर्म का पराजय होता है।

(२)

धर्मसंस्करण

मानव जीवन का चारों ओर से विचार करने वाला अगर कोई है तो धर्म ही है। जीवन का स्थाई अथवा अस्थायी—एक भी ऐसा अंग नहीं, जिसका विचार करना धर्म का कर्त्तव्य न हो अतएव धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही बल्कि उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिए और समग्र जीवन उसका क्षेत्र है अतएव वह अत्यन्त उत्कट रूप से जीवित होना चाहिए।

आज जगत में जो धर्म प्रख्यात हैं वे अधिकांश ऐसे ही व्यापक हैं। स्थापना के समय तो वे सब जीवित थे ही परन्तु धार्मिक पुरुषों ने, बारम्बार उनकी चेतना जगाकर उन्हें जीवित रक्खा है। सिगड़ी की आग स्वभावतः बार बार मन्द हो जाती है। उसमें कोयला डालकर और

फूंक मारकर बार बार संस्कार करना पड़ता है। ऐसा करने से वह जीवत और जागृति है। इसी प्रकार समाज में धर्म को जागृत रखने के लिए धर्म परायण पुरुषों को उसे फूंकने और ईंधन देने का काम करना पड़ता है। समय समय पर यह काम न होता रहा तो धर्म जीवन क्षीण और विकृत होता जाता है और धर्म का क्षीण तथा विकृत रूप अधर्म के समान ही हानिकर होता है। धर्म को चैतन्य और प्रज्वलित रखने का काम धर्मेकपरायण व्यक्ति ही कर सकते हैं।

धर्म का अंतिम आधार मनुष्यहृदय है। धर्मजिज्ञासा और धर्म विचार मनुष्य का स्वभाव है, इस कारण सब कालों और सब दिशाओं में, विकास की मर्यादा के अनुसार मनुष्य के हृदय में धर्म का आविर्भाव हुआ है। यह हृदयधर्म कितना ही कलुषित या मलिन क्यों न हो, पर उसकी मूल वस्तु शुद्ध है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है और पीतल चाहे जितना शुद्ध है, चमकदार और बढ़िया घाट का ही फिर वह सोना नहीं है। कोरी बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया लोगों में रहे हुए राग-द्वेष से लाभ उठा कर चालू किया गया और थोड़े-बहुत लोगों का स्वार्थ-पोषण करने वाला धर्म, धर्म नहीं है। असंस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दंभ से उत्पन्न होने वाली विकृति को छिपाने वाला, शिष्टाचार या चतुराई के साथ तर्क से किया जाने वाला बचाव भी धर्म नहीं है। अज्ञान भोलापन और अन्धश्रद्धा, इन तीन दोषों से कलुषित धर्म, अधर्म की कोटि पर पहुंच जाय तो बात जुदा है और जो मूल से ही धर्म नहीं है किन्तु सिफत से जो धर्म का रूप धारण

करता है यह बात भी अलग है। मानव-इतिहास में धर्म के उपर्युक्त दोनों प्रकार पर्याप्त परिमाण में मिल सकते हैं, किन्तु इन दोनों बातों का पृथक्करण करके उनका यथार्थ स्वरूप पहचानने का कष्ट अब तक मनुष्य ने नहीं उठाया है।

चालू दूकान अपनी आबादी कायाम रखने और बढ़ाने के लिए पुराने और निकम्मे माल को अलग निकाल फेंकती हैं, और पड़े-पड़े बिगड़े हुए माल को साफ-सुथरा करती है, इसी प्रकार धर्म को भी बारम्बार अपना संस्करण करना चाहिए। अलबत्ता यह संस्करण ऐसे लोगों द्वारा होना चाहिए जिसमें खरा सोना परखने और उसे संभाल रखने की शक्ति है, जो कुशल, धर्मज्ञ और समाज सेवक हैं। जगत् में आज जो नास्तिकता बढ़ गई है, उसका कारण प्रायः धर्मसंस्करण का अभाव ही है।

—काका कालेकर

परिशिष्ट ३

ग्राम धर्म

जब तक मनुष्य समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंबित है जब तक खेती ही समाज का एक मात्र महत्वपूर्ण और अनिवार्य धन्धा रहेगा। साथ ही मानव-समाज की खेती के लिए गांवों में ही निवास करना पड़ेगा।

अन्न और वस्त्र के सिवाय, मनुष्य के सामने जब

दूसरी आवश्यकताएं खड़ी होगी तब उनकी पूर्ति के लिए तथा परस्परावलंबी समाज को सुनियन्त्रित और नियम बद्ध करने के लिए बाजार हाट नगर भी अवश्य उत्पन्न होंगे।

मनुष्य समाज, आज की भांति, जब तक राजतन्त्र द्वारा नियंत्रित रहना स्वीकार करेगा, तब तक राजधानी और उसकी व्यवस्था भी अनिवार्य रहेगी। यह सब होने पर भी मानवजाति का मुख्य केन्द्र तो ग्राम ही है, क्योंकि खेती के साथ ग्राम का सजीव सम्बन्ध है।

यूरोप औद्योगिक प्रगति के नाम पर इस स्वाभाविक स्थिति को बदल कर देश देशान्तरों के साथ सम्बन्ध जोड़-कर खेती के बदले कारखानों को अधिक महत्व दिया गया है इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गांव एकदम वीरान-ऊजड़ हो गये और जहां तहां छोटे नगर बसने लगे। नागरिक, गांवों का सार भी अपनी ओर खींच ले जाने लगे।

नगर ग्रामों की आवश्यकता की पूर्ति करने के बदले आज उन्हीं को आजीविका का साधन बना बैठा है। इतना ही नहीं, पर अपनी आजीविका की पूर्ति ग्रामों से होती है इसलिए ग्राम को जीवित रखा जा रहा है। कृत्रिम स्थिति के कारण मानव-समाज का आरोग्य। उसकी आयु, उसका चरित्र और उसकी संतोष वृत्ति को को भारी आघात पहुंचा है इस आघात को दूर करने और ग्रामों को पुनः सजीवन करने में ही मानव समाज का कल्याण है।

ग्राम का पालन करने से ही ग्रामों को पुनः प्राण-

प्रतिष्ठा की जा सकती है । ग्राम धर्म का पालन करने से ग्राम फिर सजीव हो उठेंगें।

ग्रामोद्धार

(२)

आज हिन्दुस्तान में ग्रामीण समाज की असाधारण दुर्दशा है ग्रामों में शहरों से विदेशी माल और मौज शौक को विशेष वस्तुएं पहुंचती हैं—उद्योग धन्धा नहीं । शहर के दुर्गुण वहां तीव्रता से फैलने लगे हैं पर शहर में धर्म विचार सम्बन्धी जो जागृति, राजनीतिक प्रगति और समाजसुधार की प्रवृत्ति थोड़े बहुत अंशों में दृष्टिगोचर होती है, उसकी गन्ध ग्रामों में अत्यल्प प्रमाण में पहुंच पाती है।

देश देशान्तर में हमारे जिस धर्म का बखान किया जाता है वह धर्म गायों का पाले जाने वाला धर्म एक नहीं रहा है । ग्रामों में सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और उच्च चारित्र सम्पत्ति कल तक थी, आज भी उसके अवशेष दिखाई देते है, परन्तु अशुद्धि जड़ता और नास्तिकता का ही साम्राज्य वहां सर्वत्र फैल रहा है। अतएव ग्रामीण समाज में बुढ़ापा सा अधिक नजर आता है । ग्राम में अज्ञान है, अनारोग्य है और गरीबी है । अगर यह तीन दोष दूर न किये गये तो गांव का समाज टिक नहीं सकता । पर ज्ञान आरोग्य और उद्योग ऊपर से कितना लादा जा सकता है ! ऊपर से लादने

के उपायों को मर्यादा होती है । इस तरफ त्रिपुटी को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने से पहले समाज का बुढ़ापा दूर होना आवश्यक है । समाज में उत्साह और उत्थान आना चाहिए । धर्मसंस्करण के बिना यह बात बन नहीं सकती, इसलिए और सब बातें छोड़कर पहले गांवों में धर्म-संस्करण का यथायोग्य प्रयत्न करना चाहिए ।

ग्रामों में जिस धर्म का पालन होता है, उसमें भय, घूस, देववाद और जंत्र-मंत्र वाला कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है ।

—काका कालेलकर

परिशिष्ट ३

नगर धर्म

फ्रांसीसियों की

मानव तथा नागरिक अधिकार घोषणा

(१) समाज का हेतु सार्वजनिक कल्याण है । स्वाभाविक तथा कालाबाधित अधिकारों के उपयोग की मनुष्य को खातिरी देने के लिए राज्य की स्थापना की गई है ।

(२) वह अधिकार समानता, स्वतन्त्रता, सुरक्षा तथा स्वत्व है ।

(३) मनुष्य मात्र प्रकृति और कानून की नजरों में समान है ।

(४ कानून सामान्य इच्छा का स्वतन्त्र और गंभीर उद्गार है। रक्षा करने और दण्ड देने में वह सब के लिए एक है। वह न्यायसंगत और समाजहितकारी बात के सिवा किसी और चीज का विधान नहीं कर सकता, तथा समाज के लिए अहित-कर चीज के सिवा किसी और का निषेध नहीं कर सकता।

(५) समस्त नागरिक सार्वजनिक नौकरियों में समान रूप से प्रवेश के पात्र हैं। स्वतन्त्र प्रजा अपनी पसंदगी के लिए सुशीलता और सुमति को छोड़कर और किसी आधार को जानती ही नहीं है।

(६) स्वतन्त्रता अर्थात् जिससे दूसरों का हानि न पहुंचे, यह सब करने की मनुष्य की सत्ता। प्रकृति स्व-तन्त्रता की जननी है, न्याय उसका नियम है, कानून उसका रक्षक है, उसकी नैतिक मर्यादा इस न्याय में है कि दूसरों का जो व्यवहार तुम अपने लिए पसंद नहीं करते, वह व्यवहार तुम दूसरों के प्रति मत करो।

(७) समाचार पत्रों द्वारा या किसी भी अन्य उपाय द्वारा अपना विचार—अपना अभिप्राय प्रकट करने के अधि-कार की, शांति पूर्वक सभा करने की, धर्म का निर्वाध आचरण करने की शान्ति पूर्वक सभा करने की, धर्म का निर्वाध आचरण करने की मनाई नहीं हो सकती।

(८) सुरक्षितता अर्थात् अपने शरीर, अपने अधिकार और स्वत्व का बचाव करने के लिए समाज अपने प्रत्येक अंग-भूत व्यक्ति को आश्वासन दे।

(९) राज्यकर्त्ताओं के अत्चार से सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करना कानून का कर्त्तव्य होना चाहिये ।

(१०) मनुष्य की सम्पति बिना उसकी जायदाद में से जरा सा भी हिस्सा नहीं लिया जा सकता ।

(११) सर्वोपरि सत्ता जनता में अधिष्ठित है, वह एक अविभाज्य, कालावाधित और अदेय है ।

(१२) अपने विधान को फिर जांचने, सुधारने और बदलने का अधिकार प्रजा को सदैव प्राप्त है । एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को अपने कानूनों के अधीन नहीं कर सकती ।

(१३) कानून बनाने और प्रतिनिधि निर्वाचित करने में सम्मति देने का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार है।

(१४) अत्याचार का विरोध करना, यह मनुष्य के दूसरे अधिकारों से फलित होता है ।

(१५ राज्यकर्त्ता जब प्रजा के अधिकारों का उल्लंघन करे, तब प्रजा के लिए और प्रजा के प्रत्येक अंग के लिए, बलवान करना परम पवित्र अधिकार और परम अनिवार्य धर्म है ।

('राजकथा' से)

परिशिष्ठ ४

राष्ट्र धर्म के मुख्य अंग

[चीन राष्ट्र के नेता डा. सन-यात-सेन के राष्ट्रीय सिद्धांत)

राष्ट्र और प्रजा

(१)

प्रजा का राष्ट्र:-राष्ट्र प्रजा के सहारे जीवित है, अतएव वह प्रजा का है। प्रजा का पालन पोषण करना राष्ट्र का धर्म है और राष्ट्र को समृद्ध बनाना प्रजा का धर्म है। राष्ट्र और प्रजा दोनों अभिन्न हैं। प्रजा की दुर्बलता से राष्ट्र दुर्बल होता है और प्रजा की सफलता से राष्ट्र सफल बनता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। प्रजा की एकता, रक्तैक्य, भाषा-ऐक्य, आजीविका-ऐक्य, धर्म-ऐक्य गुणस्वभाव-ऐक्य, आदि प्राकृतिक शक्तियों पर अवलंबित है और प्रजा की एकता पर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

प्रत्येक प्रजा में अपने राष्ट्र की भावना, राष्ट्रीय आत्मा, राष्ट्रीय स्वभाव और राष्ट्रीय सजगता अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि प्रजा की राष्ट्रीय भावना में ही राष्ट्र का उत्थान है। प्रजा में अगर राष्ट्रीय भावना हो अथवा वह लुप्तप्रय हो गई हो तो राष्ट्रधर्म का अध:पतन अवश्यंभावी है।

जिस प्रजा-संघ में संगठन है उस प्रजा का राष्ट्र अजेय है, अमर है। इतिहास इस बात की साक्षी देता है।

****

प्रजा की शक्ति

(२)

राजसत्ता का पूरा-पूरा अधिकार प्रजा के हाथ में है। यही बात सदियों पूर्व चीनी महर्षि मन सू अस ने कही थी—'प्रजा सबसे अधिक मूल्यवान है, तत्पश्चात् मन्दिर और फिर अन्त में राजा-महाराजा।

परन्तु इतिहास से एकदम उल्टी बात मालूम होती है। स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों ने हमेशा प्रजा के अधिकारों का उपहरण किया है और करते आये हैं।

प्रजासंघ द्वारा संचालन होना चाहिए, यह वर्त्तमान युग की प्रजातन्त्र का युग कह कर पहचानते हैं। प्रजातन्त्र ं लिए अनेक विद्रोह हुए हैं। उनमें अमेरिका का स्वातन्त्र्य युद्ध और फ्रांस की राज्यक्रांति का सफलता में प्रधान भाग हैं। पर उन्होंने राज्यक्रांति की सफलता के लिए खून खच्चर किया था और रक्त की नदियां बहाई थी।

क्या अमेरिका और फ्रांस की मारकाट द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का आदर्श है? आदरणीय है? नहीं कदापि नहीं। मारकाट द्वारा स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का आदर्श चीन राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति और चीनी प्रजा की मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध है। मध्य युग से ही यूरोप में राजाओं तथा सम्राटों के अत्याचार अनाचार तथा धार्मिक दमन इतना अधिक फैल गया था कि जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई थी। अतएव यूरोप की प्रजा स्वतन्त्रता को अत्यन्त प्रिय

और पवित्र मानने लगी। उसे पाने के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की। उसका प्रधान स्वर था 'हमें स्वतन्त्रता दो या मौत दो।' पर उनकी स्वतन्त्रता वैयक्तिक थी, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता नहीं थी। ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता चीन में अत्यन्त प्राचीन काल में भी थी पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आगे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कीमत जरा सी भी नहीं है। अतएव चीन की प्रजा को अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वलिदान करना पड़ेगा। इस समय चीन राष्ट्र का आदर्श वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं वरन् राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता है। प्रजा ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए राष्ट्र का कार्य व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राष्ट्र शक्ति पांच भागों में विभाजित कर लेनी चाहिए (१) शासन (२) विधान (२) न्याय (४) परीक्षा (५) निरीक्षण। राष्ट्रशक्ति को इस प्रकार व्यवस्थित रूप देने से राज्य-व्यवस्था सुन्दर होगी और उसके फलस्वरूप राष्ट्र और प्रजा में मित्रता कायम रह सकेगी।

एक ओर शासनयन्त्र सुदृढ़ हो और दूसरी ओर शासनयन्त्र चलाने वाली प्रजा भी बलवान बने तो शासनशक्ति, राजतन्त्र और प्रजा के बीच बराबर बँटी रह सकेगी। शासनशक्ति की इस प्रकार व्यवस्था होने पर प्रजातन्त्र प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट ५

व्रतधर्म की आवश्यकता

व्रत अर्थात् अटल निश्चय। कठिनाइयों को जीतने के

लिए व्रतों की आवश्यकता है। कठिनाई सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय गिना जाता है। सारे का अनुभव इस बात की साक्षी देता है कि ऐसे अटल निश्चय के बिना मनुष्य ऊपर ही नहीं चढ़ सकता। पाप रूप प्रवृत्ति का निश्चय व्रत नहीं कहलाता, यह राक्षसी वृत्ति है। हां, कोई निश्चय पुण्य रूप जान पड़ा हो और अन्त में पाप रूप सिद्ध हो तो उसे त्यागना अवश्य धर्म है। पर ऐसी वस्तु के विषय में कोई व्रत नहीं लेता—नहीं लेना चाहिये जो धर्म सर्वमान्य गिना गया हो और जिसका आचरण करने की टेक न पडी हो उसी के सम्बन्ध में व्रत होता है। सत्य कहने से किसी का हानि पहुंच जाय तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता। सत्य से संसार में न किसी को हानि हुई है न होगी, ऐसा सत्यवादी को विश्वास होना चाहिए। देह जाय या रहे मुझे तो धर्म का पालन करना ही है' ऐसा भव्य निश्चय करने वाला ही किसी समय परमात्मा की झलक पा सकता है। व्रत का ग्रहण करना कमजोरी का सूचक नहीं हैं, उलटा बल सूचक है। अमुक बात करना ही, इसका नाम है व्रत, और इसमें बल है। भले ही इसे व्रत शब्द न कह कर किसी और शब्द से कहा जाय। इसमें कोई हानि नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा करूंगा' ऐसा कहने वाला अपनी कमजोरी तथा अभिमान का प्रदर्शन करता है वह भले ही इसे नम्रता कह कर प्रकट करे, पर इसमें नम्रता की गन्ध तक नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा' यह शब्द शुभ निश्चयों में जहर के समान है, यह सत्य मैंने अपने जीवन में और बहुतों के जीवन में देखा है जहां तक बन पडेगा' अर्थात् पहली कठिनाई आते ही पतित हो जाना।

'जहां तक बन पड़ेगा सत्य का पालन करूंगा' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं है। व्यापार में जहां तक बन पड़ेगा अमुक तारीख पर, अमुक रकम भर देने की चिट्ठ स्वीकार ही नहीं की जा सकता। इसी प्रकार जहां तक बन पड़ेगा, वहां तक सत्य पालने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान पर नहीं बंटाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चय व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके कायदे में से एक भी अणु फिर जाय तो वह ईश्वर ही न रहे। सूर्य महाव्रतधारी है, इसलिए जगत् का कालनिर्माण होता है और शुद्ध पचांग की रचना हो सकती है। उसने ऐसी साख जमा ली है कि वह सदैव उगा है और सदैव उगता रहेगा। और इसी कारण हम अपने को सुरक्षित मानते हैं। व्यापार मात्र का अधिकार एक टेक पर अवलम्बित है। अगर व्यापारी एक दूसरे के प्रति बंधे न हों तो व्यापार चल नहीं सकता। इस प्रकार व्रत सर्व व्यापक वस्तु नजर आती है। व्रत के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए।

—महात्मा गांधी

परिशिष्ट ६

गणधर्म

प्राचीन भारत का राज्य धर्म राज्य सा था। राजा और प्रजा के बीच धर्म का सम्बन्ध था। राजा के हित में प्रजा अपना हित मानती थी और प्रजा के हित में

राजा अपना हित समझता था । इस प्रकार राज्यशासन भलोभांति चलता था । राज्यशासन सुव्यवस्थित चलने में एक मुख्य कारण था—गणधर्म की प्रतिष्ठा गणधर्म को आज की भाषा में प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली कह सकते है राजा भी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था अतएव एक तरह से प्रजा अपना शासन आप करती थी । इस प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली से गणराज्यों की ऋद्धि-सिद्धि अत्यन्त समृद्ध बनी थी और गण-राज्यों का आपसी सम्बन्ध बहुत गाढ़ा था ।

शासन की सुव्यवस्था के लिए गणराज्यों के प्रतिनिधि संस्था गार Town hall में प्राय: मिलते रहते थे और विचार विनमय करके प्रजाहित के उपायों की योजना करते थे ।

भगवान् महावीर के समय में, भारत वर्ष के गण-धर्म की बड़ी प्रतिष्ठा थी । उस समय किसी के हाथ में सर्वोपरि निरंकुश सत्ता नही थीं । तब बिखरे हुए अनेक छोटे-मोटे राज्य थे । बड़े-बड़े राज्य राजसत्ताक और छोटे-राज्य गणसत्ताक थे ।

राजसत्ताक*राज्यों में मगध का राज्य, कोसल का राज्य, वत्स का राज्य, अवन्ति का राज्य इस तरह चार राज्य मुख्य जान पड़ते हैं । गणसत्ताक राज्यों में विच्छ-विवंशीय कोलिलवंशीय, ज्ञातृवंशीय मल्लवंशीय आदि क्षत्रियों के गण राज्य मुख्य थे । गणसत्ताक राज्य उस समय लग-

---

*देखो—'Buddhist India' by Rhys davias ch I II

भग अठारह को संख्या में थे। और उन गणराज्यों में थे। और उन गणराज्यों में मुख्यतः वैशाली, कुण्डपुर, कपिलवस्तु, कशीनारा और पावा आदि स्थान मुख्य थे।

गणसत्ताक राज्यों का सगठन सुन्दर था। राज्य-व्यवस्था सुव्यवस्थित थी और राजा प्रजा के बीच धर्मभाव की घनिष्ठता थी यह बात जैनागमों और बौद्धागमों में भलीभांति प्रकट है।

इन सब गणसत्ताक राज्यों के गणनायक वैशाली के अधिपति राजा चेटक थे, जो भगवान् महावीर के संसार पक्ष के मामा होते थे।

इन राजसत्ताक और गणसत्ताक राज्यों के विषय में प्रज्ञापना सूत्र और सूयगडांग सूत्रों की टीका से अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं, जहां साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम का उल्लेख किया गया है। अगुत्तरनिकाय नामक बौद्धागम में भी सोलह देशों की गणना करते हुए इन देशों का उल्लेख किया यया है।

गणसत्ताक राज्यों में कितना सुन्दर संगठन था, यह जानने के लिए उस प्रसिद्ध लड़ाई का वर्णन पढ़ना चाहिए, जो मगधराज अजात शत्रु (कौणक) द्वारा, अपने हल्ल-विहल्ल नामक भाईयों के प्रति किये जाने वाले अन्याय को रोकने के लिए, महाराज चेटक के अठारह गणराज्यों की सहायता से की थी। वह 'रथमूसल' तथा महाशिलाकंटक नाम का युद्ध अत्यन्त विकराल था। वह युद्ध गणराज्यों के सुदृढ़ संगठन का जीता-जागता प्रमाण है।

परिशिष्ठ ६

संघ संगठन के साधन

जिस शासन की भांति बुद्धशासन में भी संघयोजना के सम्बन्ध में सुन्दर विचार किया गया है। संघ योजना में वह विचार बहुत उपयोगी हैं। अतएव यहां कुछ विचारों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

संघ संगठन —

सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखं।

अर्थात् बुद्धों का जन्म सुखकर है। सद्धर्म की देशना सुखकारक है। संघ की सामग्री-संगठन सुखकारक है और संगठित होकर रहने वाले भिक्षुओं का तप सुख-कारक है।

संघसंगठन की उपयोगिता और उसके लाभ

'एकधम्मो भिक्खवे! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, बहुनो जनस्य अत्थाय, सुखाय, देवमनुस्सानं। कतमो एकधम्मो ? संघस्य सामग्गी। संघे खो पन भिक्खवे! समग्गे न चेव अञ्ञमञ्ञं भण्डनानि होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिभासा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञ परिक्खेवा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिच्चजना होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चे व प्पसीदन्ति, पसन्नानञ्च भीयोभावो होतीति।'

अर्थात्—हे भिक्षुओं ! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे सिद्ध करने से बहुत लोगों का कल्याण, बहुत लोगों का सुख तथा देव और मनुष्य सहित बहुत लोगों का कल्याण, सुख और इच्छित अर्थ सिद्ध होता है।

वह धर्म कौन सा है ?'

संघ का सगठन।'

भिक्षुओं ! संघ का संगठन होने से परस्पर क्लेश-कलह नहीं होता, परस्पर अपशब्द-गाली गलौच—का व्यवहार नहीं होना, परस्पर आक्षेप-विक्षेप नहीं होता, परस्पर परितर्जना नहीं होती, इस प्रकार संघ का संगठन होने से अप्रसन्न भी प्रसन्न हो जाते हैं (हिलमिल कर रहने लगते हैं) और जो प्रसन्न हैं उनमें खूब सद्भाव उत्पन्न होता है।

संघसंगठन-साधक की सिद्धि

सुखा संघस्स सामग्गी, सम्मग्गानञ्च अनुग्गहो।
समग्गरतो धम्मत्थो, योगक्खेमा न धंसति ॥
संघं समग्गं कत्वान, कप्पं सग्गम्हि मोदति।

अर्थात्—संघ की सामग्री संगठन सुखकारक है। संगठन में रहने वालों की सहायता करने वाला, धर्म में स्थिर रहने वाला और संगठन साधने वाला भिक्षु योग क्षेम से च्युत नहीं होता और संघ का संगठन करके वह भिक्षु अल्प काल पर्यन्त स्वर्ग-सुख भोगता है।

संघभेद का दुष्परिणाम—

एक धम्मो भिक्खवे ! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहु जनाहिताय, बहुजनासुखाय बहुनो जनस्स अनत्थाय; अहिताय, दुक्खाय देवमनुस्सानं कतमो एक धम्मो ? संघभेदो। संघे खो पन भिक्खवे ! भिन्ने अञ्जमञ्ज भण्डनानि चेव होन्ति: अञ्जमञ्जं परिभाषा च होन्ति, अञ्जमञ्ज परिक्खेपा च होन्ति. अञ्जमञ्ज परिच्चजना च होन्ति. तत्थ अप्पसन्ना चेव न प्पसीदन्ति पसन्नाञ्च एकश्चानं अञ्जथत्तं होत्तीति।

अर्थात्—भिक्षुओ ! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे उत्पन्न करने से बहुत लोगों का अकल्याण बहुत लोगों का असुख और देव मनुष्य सहित बहुत लोगों को अनर्थ, अकल्याण और दुख उत्पन्न होता है।

'वह कौनसा धर्म है ?'

सघभेद'

भिक्षुओं ! संघ में फूट डालने से आपस में कलह होता है आपस में गाली-गलोच होता है, आपस में मिथ्या आक्षेप होते हैं। आपस में परितर्जना होती है। आपस में अप्रसन्न हुए लोग हिलते मिलते नहीं हैं और मिलेजुले लोगों में भी अन्यथा भाव–असद्भाव पैदा होता है।

संघभेदक की दुर्गति—

आपापिको नेरयिको कप्पत्थो संगभेदको।
वग्गारामो अवम्मत्थो योगक्खेमतो धंसति ॥
संघं समग्गं भित्वान कप्पं निरहम्हि पच्चतीति।

अर्थात्—संघ में फूट डालने वाला अधर्मी, अल्प वर्ष

पर्यन्त नरक में निवास करता है, निर्वाण से विमुख होता है और संघ में फूट पैदा करके अल्पकाल तक नरक में पचता है।

संघ संगठन के साधन—

छहिमे भिक्खू धम्मा सारागीया पियकरणागरुकरणा संगहाय, अविवादाय समग्गिया एकीभावाय संवतन्ति । कतमे छ ?

(१) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं कायकम्मं रहो च ।

(२) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं वचीकम्मं रहो च ।

(३) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं मनोकम्मं रहो च ।

(४) भिक्खवे ! भिक्खू ये ते लाभा धम्मिका धम्मलद्धा अन्तमसो पत्तपरियापन्नमत्तंऽपि तथा रूपेहि लाभेहि अप्पटिविभत्तभोगी होति सीलवन्तेहि सब्रह्मचारीहि साधारणभोगी ।

(५) भिक्खवे ! भिक्खू यानि यानि सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानि सीलेसु सीलसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च ।

(६) भिक्खवे ! भिक्खू याऽयं दिट्ठि अरिया निय्यानिका निय्याति तक्करस्स सम्मादुक्खक्खयाय तथारूपाय दिट्ठियादिट्ठिसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च ।

अर्थात्—यह छः वस्तुएँ स्मरणीय, प्रेम बढ़ाने वाली

और आदर बढ़ाने वाली है और वह संग्रह, अविवाद, सामग्री (एकता और एकीकरण में कारण हैं:—

(१) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय कार्यकर्म।

(२) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय वाचा-कर्म।

(३) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय मनःकर्म।

(४) धर्मानुसार मिली हुई वस्तुओं का साधर्मिकों में बंटवारा करके उनके साथ उपभोग करना।

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष में अपना शीलाचार, अखण्ड अछिद्र, अशबल, अकलुषित, भूजिष्य (स्वतन्त्र), सुज्ञप्रशस्त, अपरामृष्ट और समाजसंवर्तजिक रखना, और।

(६) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में जिस दृष्टि के द्वारा सम्यक् प्रकार से दुःख का नाश होता है उस आर्य निर्यानिक दृष्टि से सम्पन्न होकर व्यवहार करना।

महात्मा बुद्ध ने संघ की व्यवस्था के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, वे किसी भी संघ के लिए उपयोगी हो सकते हैं। हमारा संघ भी उनसे लाभ उठा सकता है। संघधर्म का पालन करने के लिए इन नियमों की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

(६) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में जिस दृष्टि के द्वारा, सम्यक् प्रकार से दुःख का नाश होता है उस आर्य निर्याणिक दृष्टि से सम्पन्न होकर व्यवाहार करना ।

महात्मा बुद्ध ने संघ की व्यवस्था के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, वे किसी भी संघ के लिए उपयोगी हो सकते हैं । हमारा संघ भी उनसे लाभ उठा सकता है । संघधर्म का पालन करने के लिए इन नियमों की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।

परिशिष्ठ ८

चारित्र-धर्म

बुद्ध का गृहस्थधर्म—दस शील धर्म

परिग्रह से युक्त गृहस्थ के लिए केवल भिक्षु धर्म के अनुसार वर्त्ताव करना शक्य नहीं है । श्रावक जिस वर्त्ताव 'सज्जन' कहलाता है वह गृहस्थ का व्रत मैं कहता हूं :—

उसे प्राणहानि नहीं करनी चाहिए और न करानी चाहिए । समस्त भूतों के प्रति, फिर चाहे वह स्थावर हो या जँगम हो, दण्डबुद्धि का–भिक्षावृत्ति का त्याग करना चाहिए ।

'तत्पश्चात् विवेकशील श्रावक को किसी भी वस्तु को चोरी करने वाले को उत्तेजन नहीं देना चाहिए, इस

प्रकार सम्पूर्ण अदत्तादान का त्याग करना उचित है ।

समझदार श्रावक को धधकते हुए, सुलगते हुए कोयलों की लाई के समान अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए, अगर ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य हो तो कम से कम परदारागमन तो नहीं हो करना चाहिए ।

'सभा में, परिषद् में अथवा बिना समूह के, जब दूसरे से बोले तब असत्य न बोले, दूसरे से असत्य न बुल-वावे, और असत्य बोलने वाले को उत्तेजन न दे । इस प्रकार सब असत्य का त्याग करना चाहिए ।'

'जो गृहस्थ बुद्ध का धर्म पाले वह मद्यपान न करे, दूसरे को मद्यपान न करावे और मद्यपान करने वाले को उत्तेजन न दे, मद्य को उन्मादकारक समझ कर छोड़ देना चाहिए ।

क्योंकि मद्य के नशे में मूर्ख लोग पापाचरण करते हैं और दूसरे लोगों को भी प्रमत्त बनाते हैं । पाप का आयतन, उन्माद-कारक मोहकारक और मूर्खप्रिय इस कृत्य को निषिद्ध समझना चाहिए ।'

'प्राणघात करना, चोरी न करना, असत्य भाषण न करना मद्यप न होना, अब्रह्मचर्य और स्त्रीसंग से विरत होना और अकाल में अर्थात् रात्रि में भोजन न करना ।

'माला धारण न करना, चंदन न लगाना, सादे पाट पर या जमीन पर सोना, दुःख के पार पहुंचे हुए बुद्ध

द्वारा प्रकाशित यह आठ उपोसथ ❀ हैं, ऐसा कहते हैं ।

और यह अष्टांग वाला, सुसम्पन्न उपोसथ प्रति पख-वाड़े, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी के दिन तथा वर्षा-ऋतु में प्रसन्न मन से पालना चाहिए ।

तदन्तर उपासथ के दूसरे दिन, प्रभात में उस सुज्ञ पुरुष को प्रसन्न चित्त से भिक्षुसंघ का अनुमोदन करके भिक्षुओं में यथा योग्य अन्न और पान बांटना चाहिए ।

धर्ममार्ग से माता-पिता का पालन करना और धार्मिक रीति से व्यापार करना चाहिए । अगर गृहस्थ सावधानी के साथ इस प्रकार वर्ते तो वह सद्गति पाता है ।

सुनिपातः—१६३—४०४



❀उपोसथ अर्थात् पौषध । भाषा और भाव की दृष्टि एक ही है ।

धर्म और धर्म नायक

(उत्तरार्ध)

स्थविरधर्म-नायकधर्म

न तेन वयो सो होती येनस्स फलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्य मोधजिण्णो त्ति बुच्चति ।।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संजमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो सो थैरो त्ति पवुच्चति ।।

अर्थात्—सिर के बाल सफेद हो जाने से अथवा वयोवृद्ध (बूढ़ा) हो जाने से ही कोई 'स्थविर नहीं कहलाता, क्योंकि वह अकाल-जीर्ण है । हां जिसके हृदय में अहिंसा, संयम, दम आदि का वास है, जो निर्मल निर्दोष और धीर है वही सच्चा स्थविर-धर्मनायक कहलाता है ।



धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

विषय प्रवेश

स्थविर धर्म

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः ।

जिस समूह का कोई नायक-नेता नहीं होता उसकी दुर्गति होती है और जिसके बहुत नायक होते है उस समूह की भी दुर्गति हो जाती है।

प्रत्येक धर्म, समाज और राष्ट्र को नेता की परम आवश्यकता रहता है नेता ही किसी समूह की शक्ति को पूंजीभूत करता है; नेता ही राष्ट्रीय या धार्मिक मत को अभिव्यक्त करता है और नेता ही राष्ट्रीय, सामाजिक या धार्मिक शक्ति को गति देता है और उसमें क्षमता उत्पन्न करता है।

सच्चा नेता वह है जो धर्म, समाज और राष्ट्र का पथप्रदर्शक हो और उनके कार्यव्यापारों एव विचारों का नियन्त्रण करता है।

ठीक–ठीक नेतृत्व के अभाव में राष्ट्र में अव्यवस्था

और अनियन्त्रितता आती है और इनके फलस्वरूप असफलता मिलती है। संसार के किसी भी राष्ट्र के इतिहास पर नजर डालो, स्पष्ट ज्ञात होगा कि आन्दोलनों की चाहे वह धार्मिक हों, सामाजिक हों, राजनीतिक हों या सांस्कृतिक हों, सफलता सदैव उनके नेताओं के ऊपर निर्भर रही है ऐसे नेताओं पर जो प्रजा का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ थे। इस सच्चाई का सबूत खोजने के लिए हमें राजनीति-विज्ञान या समाजशास्त्र के अर्थ में गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न राष्ट्रों के वर्त्तमान नायक ही इस सत्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रजा का नेता प्रजा का सेवक है। सेवक को कुछ दान नहीं चाहिए। सेवक को पूजा नहीं चाहिए। दान और पूजा की अपेक्षा रखकर की गई सेवा, सेवा नहीं—व्यवस्था है।

धार्मिकवृत्ति वाला अपने आपको धर्मात्मा कहलाने का विचार तक नहीं करता। उसके चरित्र में दम्भ का नामनिशान तक नहीं मिल सकता।

जिसने अपनी इन्द्रियां पूरी तरह वशीभूत कर ली हैं और जो शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए ही इन्द्रियों का व्यापार है, जिसने सब विकारों को जीन लिया है जिसने आत्मा को पहचान लिया है, वही धर्मात्मा है-धर्मनायक है।

जो पुरुष साधु—जीवन व्यतीत करता है, जिसकी वृत्तियां सादी हैं, जो सत्य की साक्षात् मूर्ति है, नम्र है, जो अहंभाव को पास नहीं फटकने देता, वह पुरुष वास्तव में धर्मात्मा—धर्मपुरुष-धर्मनायक है। ऐसे धार्मिक पुरुष को

शास्त्रकार 'स्थविर' कहते हैं। 'स्थविर' शब्द ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से सम्पन्न वृद्ध के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। पूर्वोक्त दस धर्मों की सुव्यवस्था के लिए शास्त्रकारों ने दस स्थविरों की योजना की है।

जैन शास्त्रों में दस धर्मों का विधिवत् पालन कराने के लिए निम्नलिखित दस स्थविरों-धर्मनायकों का विधान किया गया है:—

(१) ग्रामस्थविर (२) नगरस्थविर
(३) राष्ट्रस्थविर (४) प्रशास्तास्थविर
(५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर
(७) सघस्थविर (८) जातिस्थविर
(९) सूत्रस्थविर (१०) संघस्थविर (पर्यायस्थविर)

इन दस-विधि स्थविरों की अलग-अलग संक्षिप्त व्याख्या यहां की जायगी।



१

ग्रामस्थविर--ग्रामनायक

[गामथेरो]

—(❀)—

भारतवर्ष का उद्धार उसके साढे सात लाख गांवों

को सजीव कराने में है। यह छोटे–छोटे ग्राम भारतवर्ष की संस्कृति के धाम हैं।

ग्रामस्थविर शब्द शास्त्रीय है। बोलचाल में उसे गांव का मुखिया, गांव का पटेल या गांव का नेता कह सकते हैं। गांव के अन्दर जो दुर्व्यवस्था या अव्यवस्था चल रही हो उसे दूर करके उसके स्थान पर सुव्यवस्था स्थापित करना ग्रामनायक का मुख्य कर्त्तव्य है।

दुर्व्यवस्था क्या है और सुव्यवस्था क्या है। यह जान सकना साधारण मनुष्य के लिये सरल नहीं है। इसे ठीक-ठीक वही मनुष्य समझ सकता है जिसको इस सम्बन्ध का अच्छा अनुभव हो और जिसे पूर्वोक्त दस धर्मों की सांकल की प्रत्येक कड़ी का पूरा–पूरा ध्यान हो। दस धर्मों की शृङ्खला को ठीक तरह समझने वाला ही दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का वास्तविक अन्तर समझ सकता है, क्योंकि प्रकृति के नियमों की सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था करने वाला धर्म ही है। जहां धर्म नहीं वहां व्यवस्था नहीं और जहां व्यवस्था नहीं वहां सुख-शान्ति नहीं। इसलिये ग्राम, नगर या राष्ट्र में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्र-धर्म आदि धर्मों का यथावत् क्रमबद्ध ज्ञान धर्मनायक को होना चाहिये। जो मनुष्य एकांकी दृष्टि से धर्म का विचार करता है तो वह दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का भेद नहीं समझ सकता। अतएव धर्मनायक को ग्राम में सुव्यवस्था और सुख–शान्ति स्थापित करने के लिए विवेक दृष्टि अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

ग्राम में दुर्व्यवस्था उत्पन्न होने के कारण ग्राम पतन

के पथ की ओर अग्रसर होता जाता है। गांव में अगर सुव्यवस्था न हुई तो वहां चोरी होती है, व्यभिचार होता है, भूखमरी फैलती है और इस प्रकार ग्राम्यजीवन का पतन हो जाता है। यह एक ध्रुव सत्य है। अव्यवस्थित ग्राम में सामान्यतय अनाचार का दौर होता ही है, जिस पर लोगों को अगर खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए पर्याप्त वस्त्र न मिले तब तो अनाचार का सीमा नहीं रहती। अनाचार-अत्याचार रोकने के लिए और लोगों को सत्य और न्याय के पथ पर लाने के लिए एक ग्रामनायक–सुव्यवस्थापक की आवश्यकता रहती है जो सब प्रकार की अव्यवस्थाओं को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करे।

आज गांवों में स्थविर–ग्रामसेवक बहुत ही कम है। इस कारण ग्रामोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थित नहीं हो रहा है। ग्रामनायक अगर ग्रमोद्धार के कार्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उयोग करें तो नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार होने में विलम्ब न लगे। ग्राम का उद्धार करने में ग्रामनायक का क्या स्थान है, यह बात बड़ी विस्तृत है। पर नीचे लिखे बौद्ध शास्त्रीय उदाहरण से उसका दिग्गदर्शन अवश्य हो सकता है।

किसी गांव में मघा नामक एक ग्रामनायक रहता था। इस ग्रामनायक ने अपने चरित्रबल से प्रजा के प्रेम से और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से गांव भर में ऐसी प्रतिष्ठा की थी कि गांव के सब लोग उसकी वाणी को शास्त्र का विधान मानकर अङ्गीकार करते थे। कोई उसकी बात का उल्लंघन न करता था।

मघा ने गांव के लोगों से प्रतिज्ञा कर ली थी। अपने गांव में रहने वाला कोई भी पुरुष मद्य-मास का सेवन नहीं करेगा। सब मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहेंगे। किसी के साथ कोई झगड़ा फसाद न करेगा।

मघा की यह आज्ञा ग्रामवासियों के लिए धार्मिक प्रतिज्ञा बन गई। सबने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया। मघा को इस सुव्यवस्था से उस गांव में एक भी शराबी, चोर जुआरी या कर्जदार न रहा। उसने गांव को इस ढ़ंग से सुव्यवस्थित बनाया कि सभी लोग आनन्दपूर्वक निर्भय होकर रहने लगे और ग्राम्यजीवन का सच्चा आनन्द लूटने लगे। किसो को किसी का भय न था। सभी एक वृहत परिवार की भांति, एक दूसरे के सुख दुःख के साथी बनकर रहते थे। न चोरी का डर, न डकैती का डर। द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता जाति रही। उस जीवन में सभो नर-नारी पूरी तरह संतुष्ट थे।

मघा की यह करामात देखकर ग्राम निवासी उसे देवता की भांति पूजने लगे। मगर मघा अपनी प्रतिष्ठा से फूलता न था। वह निंदा स्तुति के धरातल से ऊपर उठ गया था। उसकी एक ही धुन थी-ग्रामोद्धार। उसी में वह तन्मय रहता। ग्राम्य जीवन का अधिक से अधिक विकास करना उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो गया था।

मघा कभी-कभी, फुर्सत का समय देख ग्रामवासियों को इक्ट्ठा करता, उनके बालकों को पढ़ाने की सलाह देता, कभी वह मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण की

बुराइयों का और उनसे जीवन पर होने वाले दुष्परिणामों का चित्र खींचता था। कभी कभी बीड़ी–सिगरेट आदि मादक पदार्थों के सेवन की हानियां समझाता था। कभी वह अशिक्षा की भयंकरता का प्रतिपादन करता या स्वार्थ लोग अशिक्षा से लाभ उठाकर एक के वदले इक्कीस किस प्रकार वसूल करते हैं यह समझाता। कभी कभी खेती करने का तरीका, खेती की रक्षा का उपाय, धान्य संग्रह की विधि आदि के विषय में विवेचन करता। कभी गाय–भैंस आदि पशुओं के पालन-पोषण आदि का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार प्रत्येक संभव उपाय से वह ग्राम-निवासियों के अभ्युदय के लिए सचेष्ट रहता।

मघा कभी–कभी दोपहर में, जब स्त्रीयों को विशेष कामकाज न होता, इकट्ठा करता और उन्हें 'स्त्रीधर्म समझाता था। शिशुओं के पालन–पोषण के संबंध में अनेक बातें बतलाता था। घर की और पास–पड़ौस की सफाई की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता था। वह स्त्रियों को अवकाश के समय चर्खा चलाने, भरने–गूंथने आदि घरू धन्धों की भी शिक्षा देता था।

कभी-किसी दिन मघा गांव के नवयुवकों की सभा करता, उन्हें जीवन-धन का मूल्य समझाता। जीवन में यौवन–धन का स्थान क्या है और यह समय कितना नाजुक है। एक जरासा वासना का धक्का जीवन को किस प्रकार मिट्टी में मिला सकता है? और किस प्रकार यौवन धन को संभालना आवश्यक है? इत्यादि प्रश्नों पर विवेचन करता। नवयुवक चाहे तो देश को, समाज को और धर्म

की कितनी बहुमूल्य सेवा बचा सकते हैं, इस बात का हूबहू चित्र खींचता। उषा के अनुरक्त आंगन में खड़े हुए नवयुवकों को अपनी जीवन शक्ति का स्व-पर विकास में किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए ? इत्यादि बातें समझाते हुए युवकों में नूतन प्राणों का संचार करता हुआ यौवन की प्राणप्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए युवकों को चेतावनी देता हुआ मघा, अपने कर्त्तव्यपालन में संलग्न था।

मघा को नन्हें नन्हें बच्चों से बड़ा प्रेम था। कभी अवसर पाकर वह बच्चों को इकट्ठा करता। उन्हें खिलाता, उनसे खेलता उनकी सफाई करता, अक्षरज्ञान कराता और उनके योग्य अच्छी-अच्छी बातें उन्हें बतलाता, कभी उनके साथ हंसता-कूदता और बालकों को इतना हंसाता कि उनका पेट दुखने लगता।

अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से मघा बालकों का, स्त्रियों युवकों और बूढ़ों का सभी का स्नेहभाजन बन गया। ग्रामनिवासी सभी उसे अपना मुखिया मानते और उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे।

कहने के बदले कर दिखाने पर मघा का विश्वास था। गली कूचों में कहीं कूड़ा-कचरा देखता तो चुपचाप उठाकर गांव-बाहर फेंक आता। गन्दगी वाली जगह साफ कर रखता। कई बार स्त्रियां साफ की हुई जगह पर कूड़ा बिखेर देती, पर मघा की भौंहों पर बल न पड़ता। वह दोबारा सफाई करता। मघा का यह निस्वार्थ सेवा-भाव देखकर उन्हें लज्जित होना पड़ता। फिर कभी वे

ऐसा न करती और उलटे मघा के काम में मददगार बन जाती ।

मघा की इस सुव्यवस्था से सारा गांव साफ सुथरा और सुघड़ दिखाई देता था । गांव के लोग अपने गांव की स्वच्छता, सुघड़ता और सुव्यवस्था देखकर आनंदित होते थे । पर दुनियां में कौन-सी अच्छाई है जो किसी के लिए बुराई न बन जाय ? मघा की यह सत्प्रवृत्ति एक मदिरा विक्रेता कलार को और रोब गांठने की गुंजाइश कम होता देखकर कुछ राजकर्मचारियों को कांटे की तरह चुभने लगी । गांव में न कोई शराबी बचा था, न फरियाद करने वाला । अतएव कलार और राजकर्मचारी अपनी आजीविका की चिन्ता में पड़ गये । वे चाहते तो सीधा रास्ता पकड़ सकते थे पर अन्तस्थल में उभरती हुई ईर्ष्या के प्रभाव से उन्होंने वह रास्ता न पकड़ा ।

राज्य कर्मचारियों ने मघा पर मिथ्या दोषारोपण करके मगध नरेश के सामने फरियाद की । राजा कानों के कच्चे होते हैं । उन्हें सुझा दिया गया था कि मघा जनता में राज्यविरुद्ध उत्तेजना एवं विद्रोह की भावना भर रहा है । वह राज्यशासन में उथल-पुथल करना चाहता है । मघा राज्य का महान् शत्रु है और उसे सख्त शिक्षा मिलनी ही चाहिए, वर्ना राज्य खतरे में पड़ जायेगा ।

मगध नरेश अपने कर्मचारियों के भुलावे में आ गये। उन्होंने मघा को और साथ ही उसके अनुयायियों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा डालने की भीषण व्यवस्था दे दी । मघा ने यह सुना, मगर उसका रोम भी न फड़का । मघा

को सत्य और न्याय की अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास था। वह सत्य का सहारा लिए निश्चल खड़ा रहा। मगध नरेश ने मघा का व्यवहार देखा तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—मघा' तू क्या चाहता है। तुझे अपने प्राण प्यारे नहीं है? तू राजद्रोह का त्याग कर सुख-चन से रहना नहीं चाहता?

मगधनरेश का इस बात से मघा जैसे नींद से जाग उठा। उसने अपने कार्यों पर निगाह डाली। उसे लगा-मैंने राजद्रोह की बात तो कभी सोची तक नहीं है फिर मुझ पर यह आरोप क्यों? अन्त में मघा ने कहा-महाराज, मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूं, उसमें राजद्रोह की गंध तक नहीं है। आपसे बिना वेतन मांगे आपका ही काम कर रहा हूं। अगर यह मेरा अपराध नहीं है तो मैं सर्वथा निरपराध हूं। फिर भी अगर आप मुझे राजदण्ड का अपराधी मानते हैं तो आपकी आज्ञा सिर माथे है।'

मगध नरेश मघा की बात से प्रभावित हुए। उनकी बात में एक प्रकार की नस्पृहता थी, उत्सग था और औद्धत्य का अभाव था। नरेश फिर बोले—मघा, बताओं सारे दिन तुम क्या करते हो?

मघा ने अपनी दिनचर्या कह सुनाई। फिर उनके गांव वालों से पूछताछ की गई—प्रजाजनों? मघा की प्रवृत्ति से तुम्हें क्या हानि लाभ हुआ है? क्या तुम साफ-साफ बता सकते हो?

प्रजाजनों ने कहा—'अन्नदाता, मघा की सत्यप्रवृत्तियां

के कारण गांव में शराबी जुआरी या दुराचारी कोई नहीं रहा बालक, जवान, स्त्रियां और वृद्ध सभी अच्छे रास्ते पर आ गये हैं गांव में सतजुक वर्त्त रहा है। मघा के व्यवहार से हम लोग खूब सुखी और संतुष्ट हैं। सचमुच मघा हमारा नायक है। वह हमारे लिए देवता है।

मघा के विषय में प्रजाजनों की बात सुनकर मगध नरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कलार और फरियाद करने वाले राज-कर्मचारी को बुलाया और पूछा—जिस मघा को तुम राजद्रोही कहते हो उसी के विषय में प्रजाजनों का विचार एकदम दूसरा है। प्रजा उसे राज्य सुधारक और ग्रामनेता मानती है। कौन सच्चा है—तुम लोग या यह सब प्रजाजन ?

असत्य के पाँव उखड़ गये। प्रजा के सम्मिलित स्वर के आगे असत्य थर्राने लगा। अन्त में कलार और राज्य-कर्मचारी अपने स्वार्थ के लिए एक सच्चे ग्रामसेवक पर लगाये हुए मिथ्या आरोप के लिए क्षमायाचना करने लगे और मगध नरेश के समक्ष किए हुए अन्याय के लिए पश्चाताप करने लगे। मगध नरेश मघा की गंभीरता, सत्यप्रियता, सेवाभावना आदि गुणों को देख प्रसन्न हुए। अपने राज्य के ग्राम में ऐसे निस्पृह ग्रामसेवक का वास देख गौरव अनुभव करने लगे। अन्त में महाराज ने 'ग्रामनायक' का पद देकर मघा का सम्मान किया।

सच्चे ग्रामसेवक कैसे होते हैं ? उन पर ग्रामोद्धार की कितनी जवाबदारी रहती है ? परिक्षा के प्रसंग पर

कितनी अधिक निश्चलता एव धैर्य तथा क्षमता का परिचय देना पड़ता है ? इत्यादि अनेक बातें ग्रामनायक मघा के चरित्र से स्वयं प्रकट हो जाती है।

सच्चा ग्रामसेवक अन्याय से डरता नहीं है सत्य और न्याय पर उसकी अविचल श्रद्धा होती है। आने वाली परेशानियों पर विजय पाना उसका कौतुक है। मघा की निश्चलता ने सजा के बदले सम्मान पाया। उसने भूले भटके लोगों को सुमार्ग दिखाया।

खेद है, आज गांवों में मघा-सा ग्रामनायक खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता। आज एक-एक मनुष्य अपने आप में व्यस्त है। आत्मयता का भाव अत्यन्त ही क्षुद्र दायरे में सिमित हो गया है। इसी कारण ग्रामों की व्यवस्था बिगड़ी हुई है। ग्रामों में सच्चे सेवकों का अभाव होने से ही वहां दुर्व्यसनों का दौरा चल रहा है, घोर अज्ञान फैला है, जड़ता का वास है, गन्दगी का राज्य है, दीनता और बेवसी का नाच हो रहा है, मुकदमेबाजी का बाजार गर्म है और इस प्रकार सारा का सारा ग्राम्यजीवन अस्त व्यस्त हो रहा है।

जिस ग्राम का नायक बुद्धिमान होता है, वहां के लोगों को दुष्काल पड़ने पर भी कठिनाई नहीं भोगनी पड़ती, क्योंकि ग्राम नायक अपनी दीर्घ दृष्टि से भविष्य का विचार करके धान्य का संग्रह करा रखता है। दुष्काल के अवसर पर उसका उपयोग करके कठिनाई से बचा जा सकता है।

ग्रामनायकों के अभाव में, आज ग्रामीण जनता का

जीवन-धन-गोवंश अज्ञान और दुर्व्यवस्था के कारण लुट रहा है। सच्चा ग्रामनायक गोवंश के पालन पोषण के वैज्ञानिक उपायों पर अमल करके उनके संरक्षण और संवर्द्धन की तमाम व्यवस्था करता है।

अगर आज कोई ग्रामनायक आगे आवे और ग्रामीण जनता उसकी कार्यप्रणाली में सहयोग दे तो भारतवर्ष का अस्तगत ज्ञानसूर्य फिर उदित हुए विना नहीं रह सकता।

जब तक मानव-समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर आवलंबित है तब तक ग्रामधर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिये बिना छुटकारा नहीं। और यदि अन्न-वस्त्र के विना मानवजीवन कदापि नहीं टिक सकता तो ग्रामधर्म की उपेक्षा भी कदापि नहीं की जा सकती। ग्रामधर्म के प्रति उपेक्षा करने का अर्थ है मानव-जीवन के प्रति उपेक्षा करना।

भारतवर्ष में ऐसे ग्राम मौजूद हैं जो अपनी ही उपज में से उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं। ग्राम में उत्पन्न होने वाला अन्न ग्राम्यजनता की तमाम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता पूर्ण कर सकता है। रह जाती है सिर्फ वस्त्र की बात। सो प्राचीन काल में प्रत्येक गांव में वस्त्र तैयार किये जाते थे। कोई गांव ऐसा न था जहां वस्त्र न बनाये जाते हों। यह सब आज भी किया जा सकता है। इस प्रकार अगर प्रत्येक ग्राम अपने लिए खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा तैयार करले तो दूसरों का मुंह ताकने की क्या आवश्यकता है? ग्राम्यजनता दीनतापूर्वक क्यों किसी

चीज के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारे ? अपने लिए जो वास्तव में आवश्यक है वह आप ही उत्पन्न करले और जितना उत्पन्न करले उतने ही से काम चला ले बाहर से मंगाने की अपेक्षा न रक्खे तो उसमें आत्म निर्भरता का तेज उदित होगा। ग्रामनायक के बिना, यह सब बातें ग्रामीण जनता को कौन समझाए ?

बहुत देर से ही सही, पर अब हम लोग गांवों की उपयोगिता समझने लगे हैं। शहरों की समृद्धि और चकाचौंध पैदा करने वाला वैभव देखकर, घड़ी भर के लिए हम आश्चर्यचकित भले बन जावें पर दिनों दिन दरिद्र बनते जाने वाले गांवों की दर्द नाक कहानियां जब हमारे कानों से टकराती हैं तब हमारी सभ्यता का मोह कपूर की तरह उड़ जाता है, अभिमान गल जाता है। हमें लगता है—अगर गांव नष्ट हुए—ग्राम धर्म और ग्रामनायक के अभाव में गांव वीरान बन गये तो समृद्धिशाली नगरों का प्राण और तेज :री ही घडी उड़ जायगा। इसमें सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं है।

ग्राम मूल है और नगर उसके फूल पत्ते के समान है। जब मूल में सडन आरम्भ होती है तब वह मूल में ही परिसमाप्त नहीं हो जाती। उसका प्रभाव फुनगी तक पहुंचे बिना नहीं रहता। इस सत्य को समझने के लिए अनुभव ने हमें बाध्य किया है, फिर भी हमारी मोहनिद्रा अब तक भी पूरी तरह भंग नहीं हुई। इसी कारण राष्ट्र के सूत्रधार ढोल बजा कर कहते हैं—

सच्चा हिन्दुस्तान गांवों में बसा है। तो माया मात्र

है। गांवों की सेवा ही हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार की भूमिका है।

ग्रामोद्धार की यह बात भले ही समझ में आ गई हो फिर भी अभी तक हमारे हृदयों के तारों में सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न नहीं हुई। इस अभागे सत्य को अस्वीकार करने से क्या लाभ है?

कोई सच्चा ग्रामनायक, ग्रामधर्म का अर्थ जब हमें समझाएगा और समझे हुए धर्म को जब हम जीवन में परिणत करेंगे तब भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर विराजमान होगा।

भारतवर्ष में जब सच्चे ग्रामनायक थे तब ग्रामधर्म समस्त धर्मों का संचालन करता था। अर्थात् ग्रामधर्म ही नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि का पोषण और वर्धन करता था।

लगभग दो हजार वर्ष पहले की बात है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में ग्रीस देश का राजदूत मेगस्थिनाज आया था। उसने भारतवर्ष के धर्म के संबंध में अपने कुछ वर्ष के अनुभव बतलाते हुए लिखा है—

भारत वर्ष में धर्म की ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि भारतीय लोग अपने मकान में ताला भी नहीं लगाते। न वे असत्य भाषण करते हैं, न मायाचार का सेवन करते हैं।

भारतवर्ष, आज भी वह भूमि है, जिसका एक परदेशी ने मुक्तकंठ से गुणगान किया है!

इस पुण्यमयी भारत भूमि को ग्रामधर्म के पालन द्वारा

फिर से उन्नत बनाने का उत्तरदायित्व उसकी संतान पर आ पड़ा है।

ऊपर जिस ग्राम्य व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, वह जिस दिन भारत में, उसके ग्रामनायकों द्वारा प्रचलित की जायगी उसी दिन भारत में फिर से आनन्द मंगल की हवा चारों ओर फैल जायगी और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा भारतवर्ष के शुभचिन्तकों का यहीं मन्तव्य है।



२

नगरस्थविर-नगरनायक

(नगरथेरा)

—:※:—

नगर स्थविर के नगरोद्धार के कार्य में नागरिक जन जन अगर सहृदय सहयोग प्रदान करें तो सच्ची नागरिकता का, जो मानव-जीवन को विकसित करने के लिए आवश्यक है, विकास हो सकता है, नागरिकता धर्मसंस्कृति का पोषण करती है।

जो विशिष्ट पुरुष नगर की आन्तरिक तथा बाह्य सुव्यवस्था करता है वह नगरस्थविर या नगरनायक कहलाता है।

ग्रामस्थविर और नगरस्थविर में इतना अन्तर है कि ग्रामस्थविर ग्राम की अर्थात् छोटे-से जनसमूह की व्यवस्था करता है, जबकि नगरस्थविर नगर की अर्थात् बड़े जन-समूह को व्यवस्था करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकार मर्यादा के अनुसार कार्य आरम्भ करता है और उसे पार उतारता है। अधिकार मर्यादा का उल्लंघन करने वाला कार्य में सफलता नहीं पाता।

ग्राम स्थविर ग्राम की मर्यादा में रहता हुआ ग्राम के अभ्युदय के लिए कार्य करता है ग्रामस्थविर अगर ग्राम के अभ्युदय का कार्य आरम्भ करके नगर का उद्धार करने चल पड़े तो वह दोनों में से एक भी कार्य सम्पन्न न कर सकेगा अतएव यह आवश्यक है कि ग्रामस्थविर अपनी ही मर्यादा में रहकर ग्राम-सुधार का कार्य करे और नगर-स्थविर नगर की सुव्यवस्था की ही ओर ध्यान दे। बड़े जन समूह की व्यवस्था नागरिक ही कर सकते हैं, ग्राम-जनों द्वारा नागरिकों का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

नगरस्थविर राज्य और प्रजा के बीच का प्रधान पुरुष होता है। राज्य से प्रजा को और प्रजा से राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुंचने देने की जिम्मेदारी नगर-स्थविर को है। इस जिम्मेदारी को भलीभांति निभाने वाला

पुरुष ही नगरस्थविर के पद को शोभा बढ़ा सकता है।

नगर-प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति सुधारने में जो भी बाधक कारण हों, उन्हें दूर करके विकास के साधन पूरी तरह प्रस्तुत करना नगरनायक का प्रधान कर्त्तव्य है।

नगर-जनों को शारीरिक स्थिति सुधारने के लिए जगह-जगह व्यामशालाएं स्थापित करना, स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन कराना, प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए योग्य व्यवस्था करना, घर-घर पानी पहुंचाने का समुचित प्रबन्ध करना, नहाने और धोने का अलग-अलग व्यवस्था करना इत्यादि शारीरिक स्थिति सुधार सम्बन्धी प्रबन्ध करना नगरनायक का कर्त्तव्य होता है।

नागरिकों की वाचनिक उन्नति के लिये सभागृह स्थापित करना, सभागृहों में विद्वान वक्ताओं के भाषणों की व्यवस्था करना। बालक नवयुवक, बालिकाएं और कुमारिकाएं जिनमें स्वतन्त्रता पूर्वक भाग ले सकें ऐसे समारम्भों की स्थापना करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

नगरनिवासियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिये बालशाला; कुमारशाला, किशोरशाला, प्राथमिकशाला, माध्यमिक शाला, महाविद्यालय, विद्यालय विश्वविद्यालय आदि यथावश्यक शिक्षा संस्थाएं स्थापित करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि इन संस्थाओं में केवल तोता रटन न हो। यहां जो भी शिक्षा दी जाय वह हृदय स्पर्शी हो, जीवन में ओत-प्रोत

हो जाय । साथ ही सस्कृति के साथ उसका पूर्ण सामंजस्व हो । वह परमुखापेक्षा न बनावे । मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा की ओर खूब ध्यान दिया जाय । इसके लिये उद्योग और कला कौशल सिखाने की व्यवस्था की जा सकती है । इस प्रकार शिक्षण की समुचित व्यवस्था करके नागरिक जीवन को विकसित करने का प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है ।

अगर कोई नागरिक अर्थसंकट के कारण दुःखमय जीवन व्यतीत करता है और उसकी सर्जन-शक्ति किसी भी कार्य में प्रयुक्त नहीं हो रही है तो नगरनायक का यह काम होगा कि वह उसकी सर्जनयोग्यता दूर कर दे । नगर में वेकारी को जरा भी गुन्जाइश न रहने दे ।

नगर के नागरिकों को व्यापार में जो दिक्कते आती हों उन्हें दूर करना और नगर का व्यापार तथा नागरिकों की समृद्धि बढ़ाने के लिये सतत प्रयत्न करना भी नगर-नायक का कर्त्तव्य है ।

नागरिक प्रजा वेहुदे रीति-रिवाजों से उकता गई हो और वे रीति-रिवाज सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डाल रहे हों तो उन्हें त्याग देने और समाजसुधार के पथ पर चलने के लिये उत्साहित करना यथोचित सहयोग देना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है ।

इन सब कर्त्तव्यों के अतिरिक्त प्रजा की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रवृत्ति में समभाव पूर्वक सक्रिय भाग लेना और उसे सत्पथ की ओर ले जाने के लिए

उसका नेतृत्व करना भी नगरनायक का ही कर्त्तव्य है।

जब नगरनायक इस प्रकार शुभ निष्ठा और प्रामाणिकता के साथ नगरोद्धार का कार्य करता है, तब नागरिक जनता पर उसका प्रभाव पड़ बिना नहीं रहता। इस प्रकार नगरनायक अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा नगर-जनों का हृदय जीत लेता है और नगरजन, नगरनायक का आदेश उठाने को सदा तत्पर रहते हैं।

नागरिक जनता एक मात्र प्रतिनिधि नगरनायक हो सकता है। नगरनायक की आवाज सारे नगर की आवाज हैं। आजकल नगरनायक को 'मेयर' (Mayor) या 'म्युनिसिपल कमिश्नर' कहते हैं। शास्त्रकारों से उसे 'नगरस्थविर' कहा है। मगर नगरनायक नगरजनों को सुख शांति पहुंचाने का प्रयास करे और नगर के हित को ही प्रथम स्थान दे तो ही वह वास्तव में मेयरपद या नगरस्थविर पद को दिया जा सकता है। आज अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मेयर पद चाहने वालों की कमी नहीं है, पर सच्ची भावना से प्रेरित होकर उस पद को सुशोभित करने वाले कितने निकलेगे ? नगरस्थविर का उत्तरदायित्व कितना अधिक है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण से सहज ही समझी जा सकती है।

सं० १६०८ की बात है। उस समय उदयपुर के महाराणा स्वरूपसिंहजी थे। उन्होंने एक बार नगर सेठ, प्रेमचन्दजी को अपने पास बुलाया। उन्होंने अपने नगर के इस प्रतिष्ठित पुरुष का सम्मान करने के लिए पांच हजार रुपये की जागीर उन्हें देने की इच्छा प्रकट की। नगरसेठ

ने महाराणा से निवेदन किया—'महाराणा साहब, आपकी कद्रदानी के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं, पर जागीर स्वीकार करते मन संकुचाता है। ऐसा करने से मेरे नगरधर्म को खतरा है। अगर मैं जागीर स्वीकार कर लूं तो प्रजा के विरुद्ध राज्य की प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य करनी होगी। उस अवस्था में प्रजा का दुःख दर्द दूर करके नगर के प्रति मैं अपना कर्त्तव्य भलीभांति अदा न कर सकूंगा। अतएव मैं अगर जागीर स्वीकार नहीं कर सकता तो मुझे क्षमा प्रदान कीजिए।

महाराणा स्वरूपसिंह नगरसेठ का प्रजा-प्रेम देख अत्यन्त आनन्दित हुए। उस दिन से वे सेठजी को सच्चा नगर सेवक और राज्यभक्त पुरुष मानने लगे।

महाराणा स्वरूपसिंह के बाद सम्वत् १९१० में महाराणा शम्भुसिंहजी गद्दी पर बैठे। उनके समय में राज्य भार एजेन्ट के हाथ में था। राज्य व्यवस्था ठीक न होने के कारण प्रजा को बहुत-सी तकलीफें सहनी पड़ती थी। प्रजा दुःख सहते—सहते उकता गई थी। अन्त में प्रजा नगर-सेठ चम्पालालजी के पास आई और तकलीफें दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की प्रेरणा करने लगी। नगर-सेठ महाराणा के पास पहुंचे और प्रजा का कष्ट निवारण करने की प्रार्थना की। महाराणा ने उत्तर में एजेन्ट के पास जाकर सारी बात कहने का आदेश दिया। नगरसेठ पंचों को साथ लेकर एजेन्ट के बंगले पर जाने को तैयार हुए। पर वहां कुछ स्वार्थी लोगों ने एजेन्ट के कान भर दिये—कहा, साहब, प्रजा संगठन करके आपके ऊपर हमला

करने चढ़ी आ रही है।

एजेन्ट ने अपने कर्मचारियों की बात सुनी तो आग बबूला हो गया। उसने अपनी रक्षा के लिए तोपखाना तैयार करने का हुक्म दिया। इधर नगरजनों ने तोपखाना तैयार करने का समाचार सुना तो वे भी घबड़ाहट में पड़ गये। उन्होंने नगर में सम्पूर्ण हड़ताल कर दी। नागरिक लोग उदयपुर की 'सहेलियों की बाड़ी'※में जमा हुए। नगरसेठ ने सबको शांत और संगठित रहकर स्थिति का मुकाबला करने की सलाह दी। सभी ने एक स्वर में नगर सेठ की सलाह स्वीकार की।

उन्हीं दिनों उदयपुर नगर में एक बैल मर गया। मरे बैल को उठा ले जाने के लिए ढेढ़ लोगों को बुलाया। पर उन्होंने साफ उत्तर दिया कि नगरसेठ की आज्ञा बिना हम लोग हर्गिज काम न करेंगे। राज्य कर्मचारी किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे। कर्मचारी नगरसेठ के पास पहुंचे और मरे बैल को उठा ले जाने की, ढेढ़ लोगों को आज्ञा देने को कहा। नगरसेठ उदारचित थे। वे पिघल गये। उनकी आज्ञा पाकर मरे बैल को उठाया और बाहर ले गये। नगरसेठ का समस्त प्रजा पर पूरा-२ प्रभाव था। नगरजन

※उदयपुर में 'सहेलियों की बाड़ी' नामक एक सुन्दर उद्यान है। उदयपुर का सौंदर्य बढ़ाने में इस उद्यान का भी बड़ा भाग है किसी समय महारानी अपनी सखी-सहेलियों के साथ वायु सेवन के लिए इस उद्यान में आया करती थी। इसीसे उसका उक्त नाम मशहूर हो गया है।

खूब संगठित थे। उधर एजेन्ट साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे, इधर नगरसेठ अपने निश्चय पर सुदृढ़ रहे। कोई किसी के सामने झुकने को तैयार न हुआ। एजेन्ट का दुराग्रह देख नगरसेठ मोटेगांव (गोगुन्दा) नामक गांव में चले गये। नगरसेठ का नगर छोड़ जाना साधारण बात न थी। एजेन्ट को यह मालूम हुआ। उसे यह भी मालूम हुआ कि नगरसेठ के पीछे और प्रतिष्ठित लोग भी हिजरतकर जायेंगे। अतएव एजेन्ट कुछ नम्र हुआ। नगरसेठ को अपने पास बुलवाया और नगर छोड़ने का कारण पूछा। नगरसेठ ने नागरिक प्रजा की कष्ट कथा कह सुनाई। एजेन्ट साहब ने शांत चित्त से नगरसेठ की बातें सुनी। अन्त में उसने प्रजा का कष्ट निवारण करने का आश्वासन दिया और नगरसेठ को नगर न छोड़ने का आग्रह किया।

सेठ चम्पालालजी और सेठ प्रेमचन्दजी सच्चे दिल से प्रजा की भलाई चाहते थे। इसलिए प्रजा भी उन्हें अपना हितैषी प्रतिनिधि मानती थी। सच्चा नगरपति अपनी सुख सुविधाओं को लात मारकर प्रजा के कष्ट निवारण करने का उद्योग करता है। प्रजा का सुख-दुःख ही उनका सुख-दुःख होता है। वह अपना अस्तित्व प्रजा के अस्तित्व में समाविष्ट कर लेता है। सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी ऐसे ही नगरपति थे। इस कारण प्रजा उनके आदेश की तरह मान्य समझती थी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि नगरजनों के हित के लिए नगर-स्थविर को अपना कितना समय और कितनी शक्ति

का त्याग करना पड़ता है ?

जिस नगर में ऐसे प्रजावत्सल और सत्याग्रहशील नगरस्थविर बसते हैं उस नगर में अत्याचार, अनाचार, लूटमार, चोरी डकैती आदि बुराइयां नहीं घुस पाती। वहां सदाचार, स्नेह, सद्भाव, संगठन आदि सद्गुणों की हवा चहु ओर बहती है।

नगरस्थविर का पद राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्व का है। राजा अपनी सत्ता के बल से प्रजा पर शासन करता है, पर नगरस्थविर शुद्ध प्रेमभाव से प्रजा पर पूरा काबू रखता है और यह कौन नहीं जानता कि प्रेम के प्रभाव के आगे सत्ता का उन्माद निरर्थक साबित होता है। राजा कितना ही बलवान क्यों न हों, नगरस्थविरों के प्रेमभाव के आगे झुकना ही पड़ता है, क्योंकि उसमें प्रजा की संगठित शक्ति केन्द्रीत होती है।

नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच का प्रतिनिधि है। नगरपति राजा का गुलाम नहीं है और प्रजा का अंध-भक्त भी नहीं है। वह सत्य और न्याय का उपासक है। राजा अन्याय करता हो तो उसे रोकना और प्रजा निष्कारण राजद्रोह करती हो तो उसे समझाकर शांत करना, यह नगरस्थविर का कार्य है। राजा और प्रजा दोनों के प्रति नगरस्थविर का इतना अधिक सद्भाव होता है मानों वह इनका दास हैं, फिर भी वह सबका स्वामी है। इस प्रकार नगरनायक प्रजा का सेवक है और सच्चा सेवक होने के कारण सेव्य भी है।

कोई भी राज्य केवल अधिकार के बल से नहीं निभ

सकता राज्य की दृढ़ता प्रजा के सहयोग पर निर्भर करती है। ग्राम स्थविर और नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच स्नेह सम्बन्ध स्थापित करता है और इसलिए उसी पर नगर एवं ग्राम की सुख-शान्ति अवलम्बित है।

जिस नगर में पारस्परिक स्नेह-सद्भाव और सहकार सहानुभूति नहीं होगी उस नगर का उद्धार होना बहुत कठिन है। जिस नगर के निवासी अपने पड़ौसियों के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, हमें उनसे क्या प्रयोजन! जो करेगा सो भरेगा। हम क्यों किसी के बीच से कूदें? इस प्रकार सोचकर अपने पड़ौसियों को सहयोग नहीं देते वे नगर के अधःपतन में कारण बनते हैं।

मानव हृदय ही ऐसा है किसी का दुःख-दर्द देखकर एकदम दुखित हो जाता है। यह हृदय की नैसर्गिक वृत्ति है। ऐसी अवस्था में अगर एक पुरुष अपने दूसरे नागरिक भाई को सहयोग नहीं देता—उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त नहीं करता तो समझना चाहिए, उसका हृदय गुम गया है—उसमें मानवीय हृदय नहीं है, वह मनुष्य की आकृति में पशुवत् आचरण कर रहा है।

एक अन्धा आदमी गड्ढे में गिर रहा है। उसके पास तेज आंखों वाला दूसरा पुरुष खड़ा खड़ा देखता है। वह अन्धा चाहे मरे चाहे जीये, यह सोचकर अन्धे को गिरने से रोकने की चेष्टा नहीं करता। तो इन दोनों में बड़ा और सच्चा अन्धा कौन है? इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर मिलेगा कि सूझता कहलाने वाला पर अन्धे को गड्डे में गिरने से न बचाने वाला ही दरअसल बड़ा

अन्धा है ।

मित्रों ! हम सब मनुष्य हैं मनुष्य की विशिष्टता उसकी विवेक-बुद्धि पर निर्भर है । विवेक बुद्धि धारण करने वाले मनुष्य में इतनी निर्दयता कहां से आ गई है अन्धा आदमी गढ्ढे में गिरता है और सूझता मनुष्य उसे बचाता नहीं ! सच्चाई यह है कि आज अधिकांश मनुष्यों में 'मनुष्यता, रह ही नहीं गई है । 'हमें क्या ? इस प्रकार का उपेक्षा भाव सच्चे मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो नहीं हों सकता । परस्पर सहयोग करना, एक दूसरे की सहायता करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है । जो मनुष्य जिस ग्राम या जिस नगर में निवास करता है वह उस ग्राम या नगर के सुःख-दुख की यदि चिन्ता नहीं करता और केवल स्वार्थ में ही लिप्त रहता है और 'हमें किसी से क्या' सोचकर दूसरों के प्रति उपेसाभाव रखता है तो ए होगा कि उसे उस नगर या ग्राम में रहने का . धकार ही नहीं है ।

निस्वार्थ बुद्धि से, पवित्र कर्त्तव्य की आन्तरिक प्रेरणा से, अपने पड़ोसी की विपदा में भाग लेना नागरिकता का आभूषण है, मगर जिसकी नागरिकता का इतना विकास नहीं हुआ उसे भी कम से कम इतना विचार तो करना ही चाहिए कि जो आपदा-विपदा आज मेरे पड़ोसी नगरनिवासी पर आ पड़ी है वही कल मेरे ऊपर भी आ सकती है । कौन जानता है, भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है ? अगर आज मैं दूसरों का मददगार नहीं बनता तो कल मेरी मदद कौन करेगा ? अतएव बुद्धिमान पुरुष को

पहले ही सावधान होना चाहिए। कम से कम इस विचार से नागरिक को अपने दूसरे नागरिक भाई की विपत्ति के समय सहायता करनी चाहिए। ऐसा करने से ही नागरिकता की जिम्मेदारी अदा की जा सकती।

मगर नागरिक की अपेक्षा नगरपति का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। नगरपति का गौरवमय विरुद्ध वही प्राप्त कर सकता है जो नगर के उद्धार के लिए ही अपना जीवन दे डालता है, जो समस्त नगर में अपना व्यक्तित्व बिखेर देता है, जो नागरिकों के सुख-दुःख को ही अपना सुख-दुःख समझता है और नागरिकों के स्वास्थ्य शिक्षण आदि के लिए सदा निरन्तर उद्योगशील रहता है। विज्ञापनबाजी का सहारा लेकर, लोगों को भुलावे में डालकर नगरपति बन जाना आसान है पर उस पद को आत्मोत्सर्ग करके निभाना उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करना बहुत कठिन है। यही कारण है कि नगरपत्ति या 'मेयर' या 'सिटी फादर' (नगरपिता) बनने के लिए लोग आकाश पाताल एक कर देते हैं, पर जब कर्त्तव्य का बोझ सिर पर आ पड़ता है तब झुठे बहाने बनाकर किनारा काट जाते हैं। ऐसे लोग अपने स्वार्थीपन और कृतघ्नता का परिचय देते हैं।

सच्चा स्वार्थ त्यागी पुरुष नगर के उद्धार के लिए तन, मन धन का सहर्ष सममर्पण कर सकता है। वही नगरस्थविर पद का वास्तविक अधिकारी है। जो कीर्त्ति-लोलुप है, जो अपनी वाक्यपटुता और बाह्य आडम्बर द्वारा नगर-निवासियों को भ्रम में डालकर ठगता है, वह नागरिक की हैसियत से भी नगर में रहने का अधिकारो नहीं

है । फिर नगरस्थविर का गौरवमय पद तो प्राप्त ही कैसे कर सकता है ? निम्नलिखित शास्त्रीय दृष्टांत से यह बात भलीभांति समझी जा सकती ।

उपासकदशांक नामक सूत्र में एक मन्त्री नगरस्थविर का वर्णन मिलता है । इसका नाम आनन्द गाथापति था । आनन्द गाथापति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

से णं आनंदे गाहाव एहूब ईसाईसर जाव सत्थवा-हाणं वहुसु वज्जेसु य करणेसु य मंतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणि-ज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्साधि य णं कुटुंबस्स मेढी, पमाण, आहारे, आलम्बणं, चक्खू, मेढीभूए, जाव सव्वकज्ज-वट्टावए याविहोत्था ।

—उपासकदशांग सूत्र अ० १०

अर्थात्-आनन्द गाथापति बड़े-बड़े राजाओं से लेकर सामान्य सार्थवाहों के महत्वपूर्ण कार्यों में, कारणों में, सलाह करने में, मन्त्रण करने में तथा कुटुम्ब सम्बन्धी गुप्त बातों में विचार विनिमय करने में एक बार और बारबार पूछने योग्य था । आनन्द गाथापति अनेक कुटुम्बों का पोषक, आधार, आलम्ब, चक्षु और कोल्हू के बीच के स्तम्भ के समान मुख्य था । आनन्द श्रावक नगर की प्रत्येक प्रवृत्ति में अग्रस्थान भोगता था ।

यहां शास्त्रकार ने आनन्द गाथापति को जिन मेढ़ीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत आदि विशेषणों

से सराहा है वह विशेषण एक सच्चे नगरपति को शोभा बढ़ाने वाले हैं। नगरपति को किस प्रकार नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए, किस प्रकार नागरिकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, यह बात इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

मेढी उस स्तम्भ को कहते हैं जिसके आसपास–चारों ओर बैल चक्कर लगाते हैं। समस्त नगर निवासी आनन्द के सहारे ही अपनी प्रवृत्ति करते थे। वह समस्त नगर का प्रधान पुरुष था। वह नगर निवासियों को अपना कुटुम्बी मानकर पालता और उनके सुख का सच्चा मार्ग बतलाता था।

आनन्द गाथापति 'प्रमाणभूत' था—अर्थात वह अपने प्रामाणिक जीवन के आदर्श से दूसरों को प्रामाणिक बनाता था। जीवन अप्रमाणिक प्रवृत्ति में किस प्रकार विषाक्त और प्रामाणिक प्रवृत्ति से कितना सुखमय बन जाता है, यह बात वह नागरिकों को समझाता था और सुख के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता था। जो स्वयं प्रामाणिक है वही दूसरों को प्रामाणिक बना सकता है। अतएव आनन्द गाथापति सच्चा आदर्श एवं प्रामाणिक पुरुष था।

आनन्द गाथापति 'आधारभूत' था अर्थात् जैसे राजा नगर का मुख्य आधार होता है उसी प्रकार आनन्द गाथापति भी नगर–निवासियों का रक्षक होने के कारण आधारभूत था। अथवा आनन्द गाथापति आहारभूत था—गरीब नागरिकों को अन्न दान देकर अपने भाइयों की सेवा बजाता था। जैसे अन्न से प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार

है। फिर नगरस्थविर का गौरवमय पद तो प्राप्त ही कैसे कर सकता है ? निम्नलिखित शास्त्रीय दृष्टांत से यह बात भलीभांति समझी जा सकती।

उपासकदशांक नामक सूत्र में एक सच्चे नगरस्थविर का वर्णन मिलता है। इसका नाम आनन्द गाथापति था। आनन्द गाथापति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

से णं आनंदे गाहाव णहूब ईराईसर जाव सत्थवाहाणं बहुसु बज्जेसु य करणेसु य मंतेसु य कुटुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सावि य णं कुटुंबस्स मेढी, पमाण, आहारे, आलम्बणं, चक्खू, मेढीभूए, जाव सव्वकज्जवट्टावए याविहोत्था।

—उपासकदशांग सूत्र प्र० म०

अर्थात्—आनन्द गाथापति बड़े–बड़े राजाओं से लेकर सामान्य सार्थवाहों के महत्वपूर्ण कार्यों में, कारणों में, सलाह करने में, मन्त्रण करने में तथा कुटुम्ब सम्बन्धी गुप्त कार्यों में विचार विनिमय करने में एक बार और बारम्बार पूछने योग्य था। आनन्द गाथापति अनेक कुटुम्बों का पोषक, आधार, आलम्ब, चक्षु और कोल्हू के बीच के स्तम्भ के समान मुख्य था। आनन्द श्रावक नगर की प्रत्येक प्रवृत्ति में अग्रस्थान भोगता था।

यहां शास्त्रकार ने आनन्द गाथापति को जिन मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत आदि विशेषणों

से सराहा है वह विशेषण एक सच्चे नगरपति को शोभा बढ़ाने वाले हैं। नगरपति को किस प्रकार नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए, किस प्रकार नागरिकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, यह बात इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

मेढ़ी उस स्तम्भ को कहते हैं जिसके आसपास—चारों ओर बैल चक्कर लगाते हैं। समस्त नगर निवासी आनन्द के सहारे ही अपनी प्रवृत्ति करते थे। वह समस्त नगर का प्रधान पुरुष था। वह नगर निवासियों को अपना कुटुम्बी मानकर पालता और उनके सुख का सच्चा मार्ग बतलाता था।

आनन्द गाथापति 'प्रमाणभूत' था—अर्थात वह अपने प्रमाणिक जीवन के आदर्श से दूसरों को प्रामाणिक बनाता था। जोवन अप्रमाणिक प्रवृत्ति में किस प्रकार विषाक्त और प्रामाणिक प्रवृत्ति से कितना सुखमय बन जाता है, यह बात वह नागरिकों को समझाता था और सुख के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता था। जो स्वय प्रामाणिक है वही दूसरों का प्रामाणिक बना सकता है। अतएव आनन्द गाथापति सच्चा आदर्श एवं प्रामाणिक पुरुष था।

आनन्द गाथापति 'आधारभूत' था अर्थात् जैसे राजा नगर का मुख्य आधार होता है उसी प्रकार आनन्द गाथापति भी नगर-निवासियों का रक्षक होने के कारण आधारभूत था। अथवा आनन्द गाथापति आहारभूत था—गरीब नागरिकों को अन्न दान देकर अपने भाइयों की सेवा बजाता था जैसे अन्न से प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार

आनन्द द्वारा प्रजा की रक्षा होती थी।

आनन्द गाथापति 'आलम्बन' था। अर्थात् वह अन्धे की लकड़ी था—क्या राजा, क्या प्रजा, सभी के लिए वह आलम्बन भूत था।

आनन्द 'चक्षुभूत' था। जैसे चक्षु समस्त अंगों में प्रधान अंग है उसी प्रकार आनन्द सारे नगर में प्रधान था। वह ज्ञानचक्षु से ही हीन पुरुषों को ज्ञान-चक्षु देता था भूले-भटके पथभ्रष्ट जनों को सन्मार्ग प्रदर्शित करता था। इसी प्रकार वह चक्षु के समान था।

जब आनन्द गाथापति अपनी सत्यवृत्ति से राजा और प्रजा के लिए मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत और चक्षुभूत बना तभी वह बड़े-२ राजा, रईसों से लेकर साधारण जनता के अनेक कार्यों में, अनेक कारणों में अनेक गूढ समस्याएं हल करने में, गुत्थियां सुलझाने में, अनेक रहस्यपूर्ण कार्यों में, निश्चय करने में, व्यवहारिक कार्य करने में एक बार पूछने योग्य ही नहीं वरन् अनेक बार पूछने योग्य बना। इस योग्य बना। इस उल्लेख से स्पष्ट जान पड़ता है कि आनन्द ने नगरपति की योग्यता प्राप्त करने के लिए कितने सद्गुण प्राप्त किये थे।

शास्त्रकार का कथन है कि आनन्द ने चौदह वर्ष तक श्रावक के व्रत पालन किये और इतने समय तक वह नगर-स्थविर का उत्तरदायित्व सम्भाले रहा। इसके बाद वह जब वृद्ध हो गया। निर्बलता आ गई और नगरपति का कर्त्तव्य बजाने योग्य शरीर सम्पत्ति उसकी न रह गई तब उसने

नागरिकों को आमन्त्रित करके उनके समक्ष अपने पुत्र को वह भार सौंपा। यह कर्त्तव्यभार वहन करने के लिए उसने पुत्र को शिक्षा दी और नागरिकों से निवेदन किया—आज तक जिन-जिन बातों के लिए अब आप मेरे पुत्र से सलाह करना। आज से मैं इस उत्तरदायित्व से मुक्त होता हूं। इस प्रकार नगर के और साथ ही अपने घर के सब काम-काज छोड़कर आनन्द जीवन-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक साधना में मग्न हो गया और आत्मकल्याण की प्रवृत्ति करने लगा।

आनन्द गाथापति सरीखे सच्चे नगरपति जिस नगर को प्राप्त होते हैं वह नगर धन्य है। उसका अभ्युदय हुए विना नहीं रहता।

नगर, ग्राम की अपेक्षा काफी बड़ा होता है। अतएव अकेला नगरस्थविर पूरी तरह सारे नगर की सार-सम्भाल नहीं कर सकता। उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। नगरस्थविर को सहायता देने के लिए नगर के विभिन्न भागों के नगर-व्यवस्थापक अलग हो तो कार्य सरलता से और अच्छे प्रकार से हो सकता है। आजकल नगरों में भी स्थविर अर्थात् 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर होते हैं। मगर सुना गया है कि उससे नगर-वासियों को पर्याप्त लाभ नहीं पहुंचता। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि बड़-बड़ नगरों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वहां आये दिन तरह तरह के अत्याचार, अनाचार चोरी व्यभिचार आदि दुष्कर्म प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। इससे नगर निवासियों को अनेक प्रकार के कष्ट

उठाने पड़ते हैं। यह 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर इन कुप्रवृत्तियों को बन्द करने की कुछ भी चेष्टा नहीं करते और उनका कार्य-क्षत्र प्रायः इतना संकुचित होता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए हस्तक्षप भी नहीं कर सकते। इनका मुख्य कार्य नगर को स्वच्छ रखना है। मगर वह भी पूरी तरह उनसे नहीं होता और आजकल के नगरों में मलेरिया, प्लेग आदि भयंकर रोग घर बनाये रहते हैं।

आज के अधिकांश नगरस्थविर अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए ही इस पद पर चिपटे रहते हैं। उनमें, सच्ची सेवा भावना का अभाव होता है। यही कारण है कि आज नगर-धर्म लुप्त प्राय हो रहा है और नागरिकों का जीवन विकृत बन गया है।

ग्राम-नायक की अपेक्षा नगरनायक का उत्तरदायित्व धिक है क्योंकि नगर राष्ट्रदेह का मस्तिष्क है। जबकि ाम हाथ पैर के समान हैं। मस्तिष्क का प्रभाव समूचे शरीर पर पड़े बिना नहीं रहता।

किसी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ में, 'संथागार' में, जिसे आजकल अंग्रेजी भाषा में Town hall-टाउन हाल कहते हैं, होने वाली संघ की सभाओं का स्वतन्त्रता पूर्वक निर्भयता के साथ, परन्तु संयम और विवेक से परिपूर्ण होने वाली चर्चाओं का और उसमें सम्मिलित होने वाले नागरिकों के उल्लास को वृत्तान्त पढ़ो तो विश्वास हुए बिना न रहेगा कि उस युग में, जिसे साधारणतया जैनयुग कहा जाता है, नगर धर्म अपनी अन्तिम कोटि तक पहुंच गया

था। प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध के बिखरे उल्लेख जहां तहां मिलते है।

धर्म या आत्महित के अर्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना अपने साहित्य और इतिहास का प्रधान स्वर है ही, मगर सच्चे नागरिक को हैसियत से अपने कर्त्तव्य का पालन करने में हमारे पूर्वजों ने जो बलिदान किये है उनकी किसी भी समुन्नत, सुसंस्कृत और स्वतन्त्र देश के साथ साभिमान तुलना की जा सकती है। यह ग्रामधर्म और नगरधर्म कब शिथिल हुए और किस प्रकार अन्त में वे शास्त्रों के पृष्ठों पर ही सुशोभित रह गये, यह हमें नहीं मालूम, मगर सच्चा नगर धर्म क्या है और नगर धर्म की रक्षा के लिए नगर नायक को कितना त्याग करना पड़ता है, यह बात आज भी हम जानते हैं और नीचे लिखे उदाहरण से वह स्पष्ट हो जाती है।

वैशाली नगरी में महामाहन नामक नगरनायक था। वह राजा और प्रजा दोनों का प्रेम पात्र था। महामाहन, राजा और प्रजा के पारस्परिक स्नेह बन्धन को सदैव मजबूत रखने का प्रयत्न करता था। उसके नेतृत्व में वैशाली की प्रजा आनन्दपूर्वक रहती थी। उसको कार्य प्रणाली से सभी को संतोष था। वह नगर नायक के उत्तरदायित्व को भलीभांति जानता था। नगरधर्म उसके लिए अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् था। वह नगरधर्म की रक्षा में अपनी और प्रजा की रक्षा मानता और नगरधर्म के विनाश में अपना और प्रजा का विनाश समझता था एक बार उनकी कसौटी का दिन आ पहुंचा।

महामाहन के नगर पर किसी दुश्मन ने चढ़ाई की। उसने नगर की स्त्रियों को, बालकों को और बूढ़ों को क्रूरता के साथ सताना आरम्भ किया। महामाहन उस समय वृद्धावस्था में था। वृद्धावस्था के कारण उसका हाड पिंजर शरीर जीर्ण-जीर्ण हो गया था। पांच कदम चलने की भी शक्ति उसमें न रह गई थी। इस प्रकार का वृद्ध महामाहन नगर स्थविर की हैसियत से अपने जीवन का कर्त्तव्य बजाने आगे आया। उसकी आत्मा तिलमिला उठी। वह बिस्तर पर पड़ा न रह सका। किसी प्रकार धीरे-२ चलकर वह दुश्मनों के बीच आया और ललकार कर बोला- 'सावधान' छल-कपट से तुम्हें यह सफलता मिल गई है। नगर में लूट मचाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता, मगर इस नगर की एक भी स्त्री पर, बालक पर या वृद्ध पर अत्याचार न करने की व्यवस्था तुम्हें करनी होगी। लुटेरा राजा बूढ़े की बात सुनी अनसुनी कर देता है। बूढ़ा महामाहन जलते हुए हृदय से फिर-फिर नागरिकों की जीवन-रक्षा के लिए आवेदन करता है। मगर दगाबाज दुश्मन पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। वह सिर्फ इतना स्वीकार करता है 'तुम मेरी माता के पाठक हो मैं तुम्हारा अधिकार स्वीकार करता हूं, मगर उसका सीमा यही है कि तुम अपने कुटुम्ब सहित सही-सलामती रहो। विश्वास रक्खो, तुम्हारा बाल बांका न होगा।'

महामाहन अकेले अपनी सही-सलामती नहीं चाहता था। वह नगरस्थविर की हैसियत से अपना कर्त्तव्य अदा करना चाहता था। जब नगर के हजारों स्त्री-पुरुष आर्त्त-नाद कर रहे हों, तब अकेले अपने कुटुम्ब को बचाने की

उसकी इच्छा न थी। प्राणों से भी अधिक प्यारा नगरधर्म उसके अन्तर में क्षोभ पैदा कर रहा था। आक्रमणकारी राजा को उसने खूब समझाया, खूब प्रार्थना की। अन्त में राजा ने एक छूट दी। कहा -

महामाहन ! इतनी छूट मैं दे सकता हूं। तुम पानी में डुबकी मारो और तुम्हारे ऊपर आने से पहले जितने नागरिक, जितनी सम्पत्ति लेकर भाग जाना चाहें, उतने भाग सकते हैं।

राजा की यह कठोर शर्त वृद्ध महामाहन, बिना आगा पीछे सोचे स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया।

महामाहन अपना अशक्त शरीर लिये नदी के पानी में उतरा उसने डुबकी मारी और पानी के नीचे तल-भाग पर पहुंच कर किसी पेड़ की जड़ से चिपट गया मिनिट पर मिनिट और फिर घन्टे पर घन्टे समाप्त हो गये, मगर महामाहन ऊपर न आया। नगर के स्त्री–पुरुषों को अभयदान मिला। अन्त में, खोज करने पर महामाहन का अचेतन शरीर नदी के तल में मिल सका। वृक्ष की जड़ के साथ उसके हाथ–पैर नागपाश की भांति जकड़े हुए थे। नगर की रक्षा के लिए वृद्ध महामाहन ने अपना शरीर त्याग दिया था।

जैनयुग के नगरधर्म के सम्बन्ध में महामाहन का यह एक ही उदाहरण बस है। महामाहन का जीवन ही नगर धर्म पर जीवित भाष्य है। जहां इतना महंगा मोल चुकाकर धर्म और ग्राम धर्म का पालन किया जाता है, वहां

समृद्धि और स्वतन्त्रता का देवदुर्लभ दृश्य दिखाई पड़े तो इसमें अचरज की बात ही क्या है ?

यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन धर्मों को किसी ने पारलौकिक, धर्म के अर्थ में प्ररूपित नहीं किया है। यह लौकिक धर्म है और लौकिक सुख तथा कल्याण के लिए ही इनका उपयोग किया जाता था। फिर भी यह स्पष्ट है और निर्विवाद है कि जहां ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म गणधर्म तथा संघधर्म विनष्ट हो जाता है वहां सूत्रधर्म एवं चारित्रधर्म जो पारलौकिक धर्म हैं खतरे में पड़े बिना नहीं रहते। सामान्य बुद्धि से भी यह बात समझी जा सकती है।

आज अगर कोई यह समझता है कि—सच्चा जैन ग्राम, नगर, राष्ट्र से एकदम अलिप्त रहता है, उसके लिए धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु महत्व की नहीं है तो मानना चाहिये कि नगर धर्म की निरी अवगणना है—धर्म के मूल पर कुठाराघात है।

ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म अपने ऐतिहासिक भण्डार की अमूल्य धर्मसम्पत्ति है। आज दरिद्रता के युग में उसका प्रदर्शन करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

नगरनायक की योग्यता कैसी होनी चाहिए, इस बात को समझने के लिए आनन्द गाथापति और महामाहन गाथापति को आदर्श बनाया जा सकता है। इन आदर्शों पर चलते हुए, नगरनायकों के नगरोद्धार के कार्यों में नागरिक अगर पूरा भाग लें तो नागरिकता का जो मानव

जीवन को विकसित करने का एक महागुण है, विकास हो सकता है। नागरिकता से धर्म संस्कृति का पोषण होता है। नगरधर्म का पालन करके धर्म संस्कृति को समुन्नत् बनाना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

नगरधर्म की महत्ता समझकर, जब नागरिकता का गुण प्रकट किया जायगा तब ग्रामोद्धार, नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार के साथ ही साथ जैनधर्म का भी उद्धार होगा और जैनधर्म के उद्धार के साथ विश्वशाँति का भी उदय होगा।



३

राष्ट्रस्थविर-राष्ट्रपति

रट्ठथेरा

—❀—

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनित चरणों में अर्पण कर देता है, वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त कर सकता है।

ग्राम और नगर के उद्धार में राष्ट्र का उद्धार है

और उसके विनाश में राष्ट्र का विनाश सन्निहित है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र नगर की कोई अलग वस्तु नहीं है ग्राम और नगर मिलकर ही राष्ट्र कहलाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ग्रामों और नगरों की समृद्धि निर्भर है। ग्राम और नगरनायक के हाथ में है। ग्रामनायक और नगरनायक अगर बुद्धिमान, शक्तिशाली और प्रभावशाला हों और अपनी समूची शक्ति का उपयोग ग्रामोद्धार एवं नगरोद्धार के लिए करें तो राष्ट्रपति का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने पर भी सुगम और प्रशस्त बन जाता है।

अनेक ग्रामों के सम्बन्ध से नगर बनता है और अनेक नगरों का समूह एक प्रांत कहलाता है। एक राष्ट्र में अनेक प्रांत होते हैं उन प्रांतों में वेशभूषा, बोलचाल, खानपान, रीतिरिवाज आदि की भिन्नता भले हो, पर वे सब एक राष्ट्रधर्म के बन्धन में बन्ध होते हैं। समस्त प्रांत एक ही धर्म-ध्वज की छत्र–छाया में बसे हुए हैं, इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का मान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। राष्ट्रपति के अनेक कर्त्तव्यों में से एक प्रधान कर्त्तव्य यह भी है कि राष्ट्रपति जनसमाज में एक राष्ट्रधर्म की भावना उत्पन्न करे। और राष्ट्रपति राष्ट्रोद्धार के महत्वपूर्ण काय में सफलता प्राप्त करता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निवासी में, अपने त्याग द्वारा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करता है और राष्ट्रधर्म की मर्यादा का पालन करता है और दूसरों से कराता है और जो राष्ट्र के अभ्युदय के लिए तन-मन–धन की परवाह किये बिना ही उसमें निरन्तर संलग्न रहता है। ऐसे महाशय व्यक्ति को शास्त्रकारों ने 'राष्ट्रस्थविर' शब्द से उल्लिखित किया है। उसके लिए आजकल 'राष्ट्रपति'

शब्द व्यवहार किया जाता है । 'राष्ट्रपति' शब्द में स्वामित्व का भाव मौजूद है जबकि 'राष्ट्रस्थविर' शब्द उसकी एक विशेषता को ही प्रकट करता है ।

राष्ट्रस्थविर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक मात्र प्रतिनिधि है । वह राष्ट्रदेह का हृदय है, राष्ट्र का सेवक है, पाठक है, व्यवस्थापक है । राष्ट्रस्थविर के आदेश का पालन करना राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है और प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता करना प्रजा की सुख शांति के लिए दुःख निवारण के लिए फांसी पर चढ़ने तक की क्षमता होना, यह राष्ट्रस्थविर का कर्त्तव्य है । जिस देश की प्रजा राष्ट्रस्थविर की आज्ञा शिरोधार्य नहीं करती और जो राष्ट्र-स्थविर प्रजा के राष्ट्रधर्म का अनादर करता है, उस राष्ट्र का उत्थान नहीं होता । इस प्रकार राष्ट्रोत्थान का काय राष्ट्रस्थविर और राष्ट्रीय प्रजा दोनों पर अवलम्बित है । जिस राष्ट्र में स्थविर और प्रजा का सम्बन्ध स्नेहमयी आत्मीयता से युक्त होता है समझना चाहिये । वही राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है ।

राष्ट्रस्थविर कैसे होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए इतिहास के पन्ने पलटने के बदले भारत हृदय के सम्राट महात्मा गांधी का प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक सुगम होगा । गांधीजी के जीवन व्यवहार ने राष्ट्र स्थविर का स्वरूप समस्त संसार के समक्ष प्रकाशित कर दिया है । गांधीजी का जीवन-चरित्र बतलाता है कि राष्ट्रस्थविर को कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ती है और उन मुसीबतों में से उसे किस प्रकार पार होना

पड़ता है।

राष्ट्रस्थविर को राष्ट्र की पोशाक का, खानपान का और रीति-नीति का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। राष्ट्रस्थविर में अपने राष्ट्र के प्रति इतनी सद्भावना और इतनी ममता होती है कि वह स्वदेश के वातावरण के अनुसार ही भोजन पान आदि रखता है। विदेश को चमकीली भड़कीली प्रतीत होने वाली पोशाक से या रीति रिवाजों से उसका मन लुभा नहीं जाता।

आज अनेक भारतीय लोगों ने राष्ट्रधर्म की अपेक्षा करके ऐसी रीति-नीति अपनाई है कि वे भारतवासी होते हुए भी आचार विचार से अंग्रेजी बने रहते हैं। आश्चर्य है कि उन्हें राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक और स्वदेशी खान-पान तक पसन्द नहीं आता। ऐसे लोग अंग्रेजों का अन्ध-अनुकरण करने में ही अपना गौरव और सौभाग्य समझते हैं। भले ही ऐसा करने में गौरव समझें और सौभाग्य मानें, पर वास्तविकता यह है कि उनका यह कृत्य राष्ट्र के लिए अपमान है, दुर्भाग्य है, शाप है, क्योंकि उससे भारतीय प्रजा में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उससे मानसिक गुलामी की शृंखला मजबूत होती है।

आज हमारे राष्ट्र में, राष्ट्रधर्म से विरुद्ध जो रीति नीति उच्छृंखलता के साथ प्रचलित हो गई है उसका प्रधान कारण प्रजा के हृदय का दौर्बल्य है। अपने आपको समाज का नेता मानने वाले अनेक सज्जन परदेश जाते हैं और वहां राष्ट्रधर्म को भूलकर विदेशी रीति-रिवाजों को स्वी-

कार कर लौटते हैं और फिर उन्हें अपने देश में प्रचलित करते हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' पढ़ने से समझा जा सकता है कि विदेश जाकर भी मनुष्य को अपने चरित्र की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये।

गांधीजी जब परदेश जाने लगे तो उनकी माताजी को भय हुआ कि मेरा लड़का मांस मदिरा का सेवन कर भ्रष्ट न हो जाय। इस भय से वे गांधीजी को वेचर स्वामी नामक एक कठियावाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गई। उन्होंने मुनि से कहा—महाराज श्री ! अगर यह परदेश में मांस मदिरा तथा परस्त्री का सेवन न करने की आपके समक्ष, प्रतिज्ञा करे तो मैं इसे परदेश जाने की आज्ञा दे सकती हूं। गांधीजी ने प्रतिज्ञाएं अंगीकार की और विलायत गये। वहां अनेक प्रलोभनों ने गांधीजी को अपनी प्रतिज्ञाओं से च्युत करना चाहा, परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ गांधीजी टस से मस न हुए। इसी दृढ़ता की बदौलत आज वह महात्मा बन सके हैं। अगर गांधी अपनी प्रतिज्ञाओं पर अटल न बने रहते तो, आज वह जिस कोटि पर पहुंच सके हैं, उस पर पहुंच पाते या नहीं, यह एक प्रश्न है।

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है, वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है। गांधीजी ने अपने आत्मभोग और त्यागभाव के द्वारा राष्ट्र का सुन्दर नेतृत्व किया है और राष्ट्रस्थविर' पद को सार्थक कर दिखाया है। उनका समग्र जीवन राष्ट्रस्थविर' पद की व्याख्या है।

कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि—'गांधीजी ने राष्ट्र का नेतृत्व स्वीकार कर हमारा क्या भला किया है? उन्होंने स्वराज्य के नाम पर लाखों रुपये एकत्र किये मगर उससे हमारी तनिक भी भलाई न हुई। इस दशा में उन्हें राष्ट्र-स्थविर कैसे कहा जा सकता है?

ऐसा प्रश्न करने वाले से मैं पूछना चाहता हूं कि गांधीजी से जो रकम इकट्ठी की उसका उपयोग उन्होंने क्या व्यक्तिगत लाभ के लिए किया है? हर्गिज नहीं। इसी प्रकार गांधीजी पर व्यापार चौपट करने का अभियोग लगाना निराधार है। गांधीजी ने अपने जीवन में देश का व्यापार नष्ट करने के लिए एक भी कदम नहीं बढ़ाया। उल्टे वह देश के व्यापार को समृद्ध बनाने का ही प्रयत्न करते आये हैं। उनका कथन किससे छिपा है कि, अपने देश का माल ही उपयोग में लेना चाहिये। इसी में राष्ट्र " कल्याण है। अपने देश का कच्चा माल विदेश भेजकर हां उससे बना हुआ पक्का माल मंगाने का अर्थ है अपनी एक रुपया की चीज भेजकर वही चीज अधिक कीमत चुकाकर खरीदना।

उदाहरणार्थ—एक रुपया की दो सेर रुई खरीद कर विदेश भेजना और विदेश में उस रुई में चर्बी लगाकर जो वस्त्र तैयार किये जाएं उन्हें दस रुपया देकर खरीदना। यह व्यापार नहीं लूट है। आज भारतवर्ष एक रुपया की चीज देकर फिर उसी को दस गुनी कीमत चुकाकर खरीद रहा है। इससे देश को आर्थिक हानि तो है ही, साथ ही धार्मिक हानि भी है।

स्वदेश अर्थात् अपना देश । अपने देश में बनी हुई चीज स्वदेश कहलाती है । कौन ऐसा देशद्रोही मनुष्य होगा जो अपने देश की बनी चीज न चाहता हो । स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना प्रत्येक स्वदेश प्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है । स्वदेश का उद्धार उसी दिन से प्रारम्भ होगा जिस दिन देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे ।

अगर कोई मनुष्य खुद ही अपनी माता का अपमान करता है तो दूसरे लोग उसका अपमान करते क्यों झिचकेंगे ? जब भारतवासी ही स्वदेशी वस्तुओं का तिरस्कार करके, विदेशी वस्तुओं को अपना कर, भारत माता का अपमान करते हैं तो विदेशी लोग क्यों न उसका अपमान करें ?

विदेशी लोगों में और चाहे जितने अवगुण हों पर उन लोगों में स्वदेशप्रेम का जो सुन्दर गुण रहा हुआ है उसका प्रत्येक भारतीय को अनुकरण करना और अपने जीवन में उतारना चाहिये । स्वदेशप्रेम राष्ट्रीय जागृति का चिन्ह है । जिस देश के निवासियों में स्वदेशप्रेम नहीं है उस देश को जीवित नहीं, मुर्दा समझना चाहिए । अगर हमें राष्ट्र का हित करना है तो स्वदेशी वस्तुओं को जल्दी से जल्दी अपनाना होगा । इसी में राष्ट्र का कल्याण है ।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द हो जाय और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार हो जाय तो राष्ट्र के लाखों-करोड़ों गरीबों को, जिन्हें पहनने को वस्त्र और खाने को भरपेट अन्न नहीं मिलता, अन्न वस्त्र मिल सकता है । इस प्रकार स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों भारतीयों

को सुख-शांति पहुंचाई जा सकती है। यह राष्ट्रस्थविरों का कथन है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द होने से और स्वदेशी का प्रचार होने से बण्डल के बण्डल और गांठों की गांठें विदेशी माल मंगाने वाले कतिपय व्यापारियों को आर्थिक क्षति पहुंच सकती है पर विचारशील राष्ट्रनायकों का कथन है कि एक ही साथ सभी को लाभ पहुचे, और हानि को भी न हो, यह दोनों बातें राष्ट्रधर्म में शक्य नहीं है। अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुंचे यही राष्ट्रधर्म में शक्य हो सकता है। राष्ट्र-नेताओं के इस कथन पर विचार करने से यह बात बुद्धिगम्य और सत्य प्रतीत होती है, यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि जो धर्म राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुचाता है वही राष्ट्र-धर्म है। इस स्थिति में कोई भी स्वदेशीप्रेमी थोड़े से विदेशी वस्तुओं के व्यापारियों के लाभ के लिए करोड़ों ...यों का अकल्याण कैसे सहन कर सकता है? विदेशी वस्तु के व्यापारी को स्वयं समझ लेना चाहिए कि हमें अपने लाभ के लिए अपने करोड़ों देश-भाइयों की सुख-शांति लूटने का क्या अधिकार है? हम दूसरों के अन्न वस्त्र को कैसे लात मार सकते हैं? व्यापारियों को भी अपने अन्य भाइयों के लिए स्वार्थ त्याग करना चाहिए और गरीब भाइयों के दुःख में भागीदार बनना चाहिये जो व्यक्ति सदा अपने ही स्वार्थ में तन्मय रहता है, राष्ट्रधर्म को भूला देता है और गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषी और सेवापरायण महात्मा पर अनुचित आक्षेप करता है उसने अपने जीवन का ध्येय ही नहीं समझा है। हां, गांधीजी से किसी बात

में मतभेद हो सकता है पर राष्ट्रधर्म की दृष्टि से उनका राष्ट्रधर्म का आदर्श न मानना और उस आदर्श की उलटी अवगणना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, यह स्वदेशप्रेम भी नहीं है।

सुनते हैं, इसी भारतवर्ष में किसी समय एक रुपये के छः मन चावल और एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। तब कपड़े का क्या भाव होगा ? दरअसल प्राचीन काल में भारतवर्ष धन सम्पदा से खूब भरपूर था।

प्राचीन काल मे रुपये की खनखनाहट भले ही अधिक न सुनाई पड़ती हो, मगर उस समय देश धनसम्पन्न और धान्य सम्पन्न था। उस समय आज की भांति भोजन मिलना कठिन न था। आज भारत न श्रीसम्पन्न है, न धान्य सम्पन्न ही। भारतवासियों ने अपने हाथों से आज विदेशी माल की कुल्हाड़ी से, भारत की जड़ काट डाली है। अगर हम उस कल्पवृक्ष के मधुर फल फिर चखना चाहते हैं तो विदेशी माल की कुल्हाड़ी हमें फेंक देनी होगी और जिन हाथों से कल्पवृक्ष की जड़ काटी हैं उन्हीं हाथों द्वारा स्वदेशी माल के जलसिंचन से उसे नवपल्लवित करना पड़ेगा। तब उस कल्पवृक्ष की शीतल छाया में अनेक श्रमजीवी अपने श्रम को हल्का कर सुख शांति का अनुभव करेंगे।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का कथन था कि जिस समय अन्न वस्त्र सस्ते और सोना-चांदी महंगा हो वह पुण्यकाल और सोना-चांदी सस्ता तथा अन्नवस्त्र मंहगा हो वह पापकाल अर्थात् दुर्भाग्य का समय समझना चाहिये। क्योंकि

सोने-चांदी से जीवन की कोई आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, जबकि अन्न और वस्त्र जीवन धारण के लिए अनिवार्य हो गये हैं। समझना चाहिए कि जिस राष्ट्र में जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की, अन्न वस्त्र की पूर्ति हो रही है वह राष्ट्र प्रगति की ओर प्रयाण कर रहा है और जिस राष्ट्र में अन्न वस्त्र की पूर्ति नहीं होती वह अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्र की उन्नति और अवनति को परखने के लिए यह कसौटी है। राष्ट्रोन्नति का द्वार खोलने की यह चाबी जब हमारे हाथ आ जाएगी तब समझ लीजिए—हमने भारत की उन्नति का मार्ग खोज निकाला है। इस समय राष्ट्रोन्नति का द्वार बन्द है। इस द्वार को खोलने के लिए अन्न-वस्त्र की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करने के लिए चाबी की खोज करनी चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि ग्रामोद्धार और नगरोद्धार करने से ही राष्ट्र हो सकता है।

राष्ट्रनायकों के इस कथन में संशय की गुंजाइश नहीं है क्योंकि ग्राम ही अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का स्थान है और नगर अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने का स्थान है, जब ग्राम और नगर राष्ट्रदेह के हाथ पैर स्वस्थ एवं सबल हो जायेंगे तो राष्ट्रदेह उन्नत मस्तक होकर चल फिर सकेगा। हमें यह बात भली-भांति समझ लेनी चाहिये कि राष्ट्रोद्धार में अपने धर्म का उद्धार निहित है और राष्ट्र के अधःपतन पर अपना और अपने धर्म का अधःपतन अवलम्बित है। इस सत्य को समझकर, इसके अनुसार बर्त्ताव करने से राष्ट्र का हित अवश्य होगा और साथ ही अपना तथा अपने धर्म का भी। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ

भाव छोड़कर राष्ट्रोद्धार के सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य स्वयं जान पड़ने लगेगा। व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है यह बात निम्नलिखित दृष्टांत से समझी जा सकती है—

किसी भक्त पर देव प्रसन्न हुआ। देव ने कहा—'हे भक्त ! तेरा भक्ति-भाव देखकर मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। तू दो वस्तुओं में से कोई एक वस्तु मांग ले। तू चाहे तो बड़े-बड़े आम, नारंगी आदि के मधुर फल वाले वृक्ष दूं अथवा गेहूं बाजरा के छोटे—२ पौधे दे दूं। इच्छा हो सो मांग ले।'

भक्त ने कहा—'हे देव ! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे गेहूं बाजरा के छोटे-छोटे पौधे ही वरदान में दीजिए। मुझे उन्हीं की आवश्यकता है। मधुर फलों वाले विशाल-काय वृक्ष मुझे न चाहिए।'

देव को आश्चर्य हुआ। पूछा—'हे भक्त ! तू मधुर फल वाले वृक्ष को छोड़, गेहूं-बाजरे के छोटे पौधे क्यों मांगता है ?

बुद्धिमान भक्त ने कहा—बड़े-बड़े वृक्षों के मीठे फलों से अमीरों उमरावों के नाश्ते का काम चल सकता है, उनसे जन-साधारण की भूख नहीं मिट सकती। मगर गेहूं बाजरे के पौधे गरीब और अमीर दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। अतएव मैंने अमीरों के मौज शोक का ख्याल न करके जनसाधारण के लिए अनिवार्य उपयोगी वस्तु-अन्न को पसन्द किया है।'

देव अपने भक्त पर प्रसन्न हुआ और वरदान देकर

चला गया इस प्रकार जब तक मनुष्य अपना स्वार्थ त्याग कर विश्व की सुख-सुविधा का विचार नहीं करता तब तक राष्ट्र के कल्याण की शुभ भावना उसके अन्तर में उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्र का कल्याण जनसाधारण के कल्याण में ही है। राष्ट्रधर्म इस बात का तीव्र विरोध करता है कि सम्पन्न लोगों को सब प्रकार की सुख-सुविधाएं मिलें और बेचारा गरीब किसान तथा मजदूर परिश्रम एवं उत्पीड़न के कोल्हू में पिसते रहे, फिर भी भर पेट अन्न न पावें राष्ट्रधर्म जनसमाज के हित समाया है। राष्ट्रधर्म समभाव का पोषक हैं उसे न अमीरों से अनुराग है, न गरीबों से विराग है। अन्याय अत्याचार का विरोध करके जनता से सुख शांति का संचार करना राष्ट्रधर्म का ध्येय है।

जहां स्वार्थ ने प्रवेश किया नहीं कि राष्ट्रधर्म का ध्येय नजरों से ओझल हो जाता है, अतएव राष्ट्रीयता की भावना का मूल निस्वार्थ भावना में है जहां निस्वार्थभाव, सहृदयता, सहानुभूति, देश प्रेम नहीं है वहां राष्ट्राय जागृत नहीं होती।

जिस प्रवृत्ति के द्वारा संसार का कल्याण होता है वह धर्मप्रवृत्ति कहलाती है और जिससे संसार का अकल्याण पतन होता है वह पापवृत्ति कही जाती है। इसी दृष्टि बिन्दु को सामने रखकर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि लौकिक धर्मों की तथा स्थविरों को व्याख्या की है।

यह खेद की बात है कि भारतवर्ष में आज राष्ट्रधर्म लुप्त प्रायः हो रहा है। राष्ट्र की दुर्गति का यही कारण

है । लोग राष्ट्रधर्म से विलग रहने में ही अपना कल्याण माने बैठे हैं । विचार करने से मालूम होगा कि उनकी यह मान्यता भूल भरी है राष्ट्रधर्म के प्रताप से, जिस देश मे सघन स्नेहभाव था, द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी, उसी देश-भारतवर्ष में राष्ट्रधर्म के अभाव के कारण, घर-घर क्लेश की आग सुलग रही है, अविश्वास और वैर-विरोध की वृद्धि हो रहा है, यहां तक की पिता-पुत्र और पति-पत्नी में भी वह पारस्परिक विश्वास शेष नहीं रहा है । आज पिता पुत्र से, पुत्र पिता से पति पत्नी से अपना भेद छिपाने की चेष्टा करता है । जहां देखो, तहां, राष्ट्रधर्म की व्यवस्था न होने से, चोरी, डकैती हत्या, व्यभिचार आदि अत्याचारों का दौर दिखाई देता है। है । मगर अन्धकार में आशा की एक किरण चमकती नजर आ रही है राष्ट्र की चेतना, मानों अलसा कर जागना चाह रही है । उसकी चिरनिद्रा भंग होती जान पड़ती है । राष्ट्र की उन्नति के लिए विचार-विनिमय किया जा रहा है और जन-साधारण में राष्ट्रीयता के प्रति सहिष्णुता एवं सहानुभूति जागृत हो रही है । जान पड़ता है, वह मंगल-दिवस बहुत दूर नहीं है जब राष्ट्रधर्म के ध्येय-स्वतन्त्रता तथा विश्वशांति को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र का बच्चा-बच्चा उद्योगशील बनेगा । उस दिन जैनयुग का राष्ट्रधर्म विश्वशांति के साम्राज्य में राजव्यवस्था करना दृष्टिगोचर होगा ।

भारत कृषिप्रधान देश है । कृषि करके जगत् का पालन-पोषण करने वाले किसान ग्रामों में बसते हैं, 'इसलिए भारत देश ग्रामों में बसता है ।

जिस बगीचे में आम के हजार वृक्ष होते हैं, वह 'आंबावाड़ी' (आम्रवाटिका) कहलाती है। उसमें दस बीस पेड़ जामुन या नीम्बू के भले ही हों, पर उसे कोई 'जामुन बाड़ी' या लीम्बूबाड़ी' नहीं कहता। इसी प्रकार भारतवर्ष में गरीब जनता अधिक है और अमीर तथा सेठ साहूकार बहुत थोड़े हैं। इस स्थिति में भारतवर्ष गरीबों का देश है अमीरों और सेठसाहूकारों का नहीं। अतएव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था गरीबों को लक्ष्य बनाकर ही की जा सकती है-अमीरों को लक्ष्य कर नहीं।

बड़े-बड़े साहूकारों का सुख गरीबों की कृपा पर निर्भर है। अतएव गरीबों की रक्षा न की जाय और सेठ साहूकार अपने धनबल से अधिकाधिक धन संचित करते जाएं तो देश को सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश गरीबों का है। अमीरों का नहीं। अतएव जब तक गरीब दुःखी हैं तब तक देश दुःखी हैं और जब गरीब सुखी होंगे भी देश सुखी कहलायेगा। सच्चा राष्ट्रधर्म वही है जो भारत के जीवनधन-गरीब भारतीयों की खोज-खबर लेता है अन्न और वस्त्र के लिए मरने वाले तथा परस्पर विद्रोह करके एक दूसरे के वैरी बनने वाले गरीबों के लिए जब तक पर्याप्त अन्न और वस्त्र का प्रबन्ध नहीं होगा तब तक राष्ट्र धर्म अपूर्ण है।

आज कितनेक स्वार्थी लोग, राष्ट्रधर्म की अवगणना करके, अपने आंखों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ाकर, बेचारे गरीबों का अन्न-वस्त्र छीन रहे हैं और उनके जीवन-मरण तक का विचार नहीं करते। वे अपनी तिजोरियां भरने में

ही मशगूल हैं । ऐसे स्वार्थी लोगों को अब राष्ट्रधर्म का पहला पाठ पढ़ाने की आवश्यकता है । जब उन्हें राष्ट्रधर्म का किंचित् बोध होगा तो उनके नेत्र खुलने लगेंगे और तब उनकी स्वार्थपरायणता भी कम हो सकेगी ।

आज भारतवर्ष की स्थिति कितनी भयंकर है, यह खयाल ही बहुतों को नहीं है । बहुतों को खयाल करने की चिन्ता भी प्रतीत नहीं होती । उन्हें दुनियाभर के बाजार के भाव-ताव जानने की जितनी चिन्ता रहती है, उतनी अपने देश की स्थिति जानने की नहीं रहती । पर उन्हें समझ रखनी चाहिये, जिस दिन भयंकर स्थिति की भयंकरता फूट पड़ेगी उस दिन दुनियां के बाजार भाव उन्हें पनाह नहीं दे सकेंगे, तिजोरियां उनकी रक्षा न कर सकेंगी उस दिन उन्हीं गरीब की शरण में आश्रय लेना होगा, जिन्हें आज नफरत की निगाह से देखा जाता है, जिनका अपमान किया जा रहा है और जिन्हें हाड मांस का निर्जीव पुतला समझा जा रहा है । यह सत्य चाहे कटुक हो पर हितकारी है और अब बिना अधिक विलम्ब किये उसे समझ लेना चाहिये । राष्ट्रधर्म के शरण में आये बिना कोई चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता । राष्ट्रधर्म जनसमाज का रक्षक और पोषक धर्म है ।

एक घर में एक मनुष्य पेट भर खाता है, भूख न होने पर भी ठूंस-ठांस कर किसी प्रकार माल बिगाड़ता है जबकि बाकी के दस मनुष्यों को भर पेट रूखी-सूखी रोटी तक नसीब नहीं होती । क्या ऐसे आपा-पोषी मनुष्यों को कोई सज्जन कह सकेगा ? नहीं ।

इस देश में आज यही अव्यवस्था चल रही है। इस सीधी सादी बात को बहुत कम लोग समझते है। जहां गरीबों के प्रति सहानुभूति ही नहीं रह गई है वहां राष्ट्र-धर्म की भावना किस प्रकार जागृत हो सकता है ?

भारतवर्ष में लगभग छह करोड़ से भी ज्यादा मनुष्य हैं, जिन्हें सिर्फ एक जून खाना मिलता है अर्थात् उन्हें पेट भर खाना नसीब नहीं होता। जहां खाने की यह कठिनाई है वहां कपड़ों की कठिनाई का अन्दाज लगाना सहज है। जहां कंगलों की हालत यह उन्हीं कंगलों के खून के पसीने से धनाढय बने हुए मुट्ठी भर लोग अपने राग-रङ्ग में, ब्याह-शादी में, भोगों में और तरह-तरह की पार्टियों में आंखें मीचकर धन का दुर्व्यय करते देखे जाते हैं। उन्हें अपने गरीब भाईयों की ओर आंख उठाकर देखने की फुर्सत नहीं। यह कितनी कृतघ्नता है ? जिन गरीबों की बदौलत वह धनिक बने है, सेठ साहूकार कहलाते हैं, रईसी भोगते हैं, उन्हीं की दुर्दशा का विचार तक न करना वास्तव में घोर स्वार्थीपन और अमानुषिकता है।

अपनी स्वार्थपरता को कई लोग फिलासफी के रंग में रंगने की चेष्टा करते हैं। कहने लगते हैं—गरीबों ने पूर्व जन्म में पाप किया है सो इस जन्म में उसका फल भुगत रहे हैं। अन्तरायकर्म का उदय है—भोगोपभोग मिल नहीं सकते तब उनकी मदद से क्या लाभ होगा ? मगर परमार्थ का ज्ञाता पुरुष ऐसा विचार नहीं कर सकता। वह जानता है—जो गरीब मनुष्य अन्तरायकर्म से दुःखी है उसी मनुष्य पर दया करनी चाहिए। वही दया का पात्र है।

अगर गरीब पर दया न की जायेगी तो क्या धन-कुवेर दया के पात्र होंगे ? जो दुःखो नहीं है—जिसे संसार का सारा वैभव प्राप्त है उसे दान देने या उस पर दया करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता है। बुद्धिमान पुरुष सोचता है कि जिन गरीबों के उद्योग से मुझे सफलता मिलो है, उनके सुख—दुख में साझीदार होना मेरा—कर्त्तव्य है।

उपकार करने के प्रसंग पर 'यह उनके कर्मों का फल है' कह कर दुखीजनों की सहायता न करना उपकार वृत्ति को देश निकाला देना है। यह निर्दयता है।

जिस प्रकार श्रीमन्ताई अपने आपसे सद्गुण नहीं है, उसी प्रकार गरोबी कोई अपराध नहीं है। आज जो श्रोमान् है, वह सदैव श्रीमान् रहेगा और जो दरिद्र है वह सदा के लिए दरिद्र रहेगा, ऐसा कोई शाश्वत नियम नहीं है। यह सब अवस्थाए गाड़ी के पहिये की भांति बदलती रहती है। विवेकशोल पुरुष वैभव की गोद में फूल नहीं जाता और गराब पाकर घबरा नहीं जाता।

सच्चा राष्ट्र प्रेमी वह है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है। उसके मन में वह उस सम्पत्ति का 'ट्रस्टी मात्र होता है। अतएव राष्ट्र की आवश्यकता के समय वह अपनी तिजोरी वन्द नहीं रख सकता। राष्ट्रधर्म का रहस्य राष्ट्रोद्धार के कार्य में सन्निहित है। राष्ट्रधर्म सम्बन्धो प्रेम राष्ट्रीयता का भाव जगाता है। जिस राष्ट्र के वियासियों में अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा नहीं है, अनुराग नहीं है, उस देश का जल्दो उद्धार होना कठिन ही समझिए।

यह कितने खेद की बात है कि आज अधिकांश भारतीयों में राष्ट्रधर्म के प्रति सद्‌भाव भी नहीं है। पाश्-त्य लोगों में राष्ट्र के प्रति कितना सद्‌भाव है, यह बात एक सत्य घटना के उल्लेख से ज्ञात हो जाती है।

सागर में एक श्रावक थे। वह देशी और विदेशी-दोनों प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। एक बार किसी अङ्ग्रेज ने उनकी दुकान से चावल खरीदने के लिए अपना नौकर भेजा। दुकानदार के पास दोनों तरह के चावल थे परन्तु देशी चावल अच्छे और सस्ते थे। साहब को अच्छे चावल देने के इरादे से उसने देशी चावल नौकर को दिये। नौकर चावल ले, चला गया। साहब ने चावल देखे तो लाल-पीला हो गया। नौकर को कुछ भला-बुरा कहा! अन्त में नौकर को हुक्म दिया-इसी समय जाकर देशी चावल लौटा आओ और विदेशी खरीद लाओ।

भागा-भागा नौकर दुकान पर पहुंचा। सेठजी से सब हाल कहा। सेठजी ने चावल लौटा लिए और चौगुनी कीमत वसूल कर परदेशी चावल तोल दिये।

कुछ दिनों बाद सेठजी की उसी सेठ से मुलाकात हुई। सेठजी ने चावलों की अदली बदली का कारण पूछा। साहब ने कहा-'विलायत चावल खरीदने से उसकी कीमत हमारे देशवासियों को मिलती है हम ऐसे मूर्ख नहीं है, जो विदेश में आकर अपने देश भाईयों को भूल जाए और अपने देश का माल न खरीदें। हमारे लिये स्वदेश प्रथम है-दूसरे देश फिर। हम देशद्रोह करके अपना जीवन कलं-कित नहीं करना चाहते।'

सेठजी साहब का देश प्रेम देखकर चकित रह गये। उन्होंने तभी स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यापार करने की प्रतिज्ञा कर ली।

पश्चात्यों के देश प्रेम का एक उदाहरण जानने योग्य है—

बम्बई में एक अंग्रेज ने अपने नौकर को बूट खरीदने भेजा। नौकर देशी दुकान से, एक सुन्दर बूट की जोड़ी पांच रुपये में खरीद ले गया। उस अंग्रेज ने बूट देखे। उसकी निगाह वहां गई जहां लिखा था–Made in India, इन शब्दों को देखते ही अंग्रेज आग बबूला हो गया। बोला–गन्धे कहीं के, यह देशी बूट क्यों लाया।'

नौकर ने कहा–साहब आप पहन देखें। बूट सुन्दर है और टिकाऊ भी।

साहब, देशी बूट कितने हा सुन्दर और टिकाऊ हो, मुझे नहीं चाहिए। तू यह वापस कर आ। मेरे लिए विलायत बूट, किसी अंग्रेज कम्पनी से खरीद ला उसके मोल की चिन्ता तुझे नहीं करनी है।

नौकर–देशी व्यापारी के पास गया और बूट के विषय में आप बीती सुनाई। उस भले व्यापारी ने बूट लौटा लिए। फिर वह नौकर अंग्रेजी कम्पनी में गया और कई गुनी कीमत चुकाकर बूट–जोड़ा खरीद ले गया। साहब ने बूट देखे। Made in England देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। नौकर ने डरते-डरते पूछा हूजूर, यह कीमत

में भारी है, टिकाऊ भी वैसे नहीं है और खुबसूरत भी उतने नहीं है। फिर आपने पहले वाले बूट न लेकर यह क्यों पसन्द किये ? साहब बोले—इंगलिश कम्पनी से खरीदे हुए बूट मेरे देश की बनी वस्तु है। वह कैसे भी क्यों न हों, मुझे प्रिय है। अपने देश की चीज खरीद कर मैं अपने देश के प्रति प्रेम प्रकट करता हूं। जिस देश में मेरा पालन–पोषण हुआ है, उसकी अवगणना मैं कैसे कर सकता हूं। सात समुद्र पार आकर भी, जब मैं अपने देश की बनी वस्तु देखता हूं तो देश का सुखद स्मृति मेरे दिल में हिलोरें मारने लगती है। मेरा मस्तक देश के लिए झुक जाता है। मेरा देश मेरे लिए देव है। मैं देवता की भांति अपने देश की पूजा करता हूं।

यह उदाहरण कल्पित नहीं है। यह घटी हुई सच्ची घटनाएं हैं। इन उदाहरणों से हमें राष्ट्र प्रेम और देश-भक्ति की जो शिक्षा मिलती है वह भारतवासियों को सीखना चाहिए। इसमें से अपने देच की स्वतन्त्रता का मूल मंत्र मिल सकता है। पाश्चात्य लोगों ने देश हमारा देव है और स्वदेशी वस्तु उस देव का प्रसाद है। इसी मूर्त्त भावना के कारण वह स्वतन्त्रता का सुख अनुभव कर रहे हैं। वह सात समुद्र लाघंकर हजारों मील की दूरी पर, भारत में आये हैं, मगर क्षण भर के लिए अपना देश नहीं भूलते। उनकी राष्ट्र भक्ति का इसी से परिचय मिलता है।

और भारतीय ? उनकी हालत एकदम उल्टी है। भारतीय अपने देश में रहते हुए भी, देश परतंत्र और पतन

की अवस्था में हैं—इस बात को जानते हुए भी, विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं का व्यवहार करने में गौरव मानते हैं। देश के लिए यह बड़े से बड़ा कलंक है। इस कलंक को दूर करने पर ही भारत का मुख उज्ज्वल हो सकता है।

विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तु का व्यवहार, राष्ट्रीय दृष्टि से भी निषिद्ध है। भला जिस विदेशी वस्त्र में चर्बी का उपभोग करने के लिए लाखों-करोड़ों पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता है, उस वस्त्र का उपभोग भारतीय-जिनका आदर्श अहिंसा है-किस प्रकार कर सकते हैं? जैनधर्म की दृष्टि से, विदेशी और ऐसी ही अन्य वस्तुएं, जिनके लिए पंचेन्द्रिय प्राणियों का घात किया जाता है, अगर हेय है तो उसमें शंका को गुंजाइश ही नहीं है। विदेशी वस्त्र का व्यवहार स्पष्ट ही हिंसाजनक है, अतएव त्याज्य है। विदेशी वस्त्र का व्यवसाय धर्म भ्रष्ट करने वाला है।

जिस देश के मनुष्य अपने देश की तथा अपने देश की वस्तुओं की कद्र करना नहीं जानते, उस देश के मनुष्यों की कद्र दूसरे देश में नहीं होती। साधारण गांव में अगर कोई अंग्रेज-फिर भले ही वह बवर्ची ही क्यों न हो, पहुंच जाता है तो भारतीय लोग 'साहब आये' कहकर उसका अदब करते हैं, इससे विपरीत विदेशों में भारतीयों की कद्र कितनी होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कौन नहीं जानता, कि दक्षिण अफ्रिका में 'कुली बैरीस्टर' शब्द से महात्मा गांधी की कद्र की जाती थी। भारत के अग्र—

गण्य नेताओं को भी विदेश में अपमानित होना पड़ता है, इसके मूल कारण का पता लगाया जाय तो ज्ञात होगा कि अपसी भूल ही भूल की भांति दुःख दे रही है। जब भारतवर्ष का जनसमाज अपना राष्ट्रधर्म भूलकर विदेशी वस्तुओं को अपनाता है, तब उसका दुष्परिणाम, भारतीय होने के नाते गांधीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे आदर्श नेताओं को भी भोगना पड़ता है।

हृदय जब तक राष्ट्रधर्म से ओतपोत नहीं होता तब तक राष्ट्रीधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। और राष्ट्रप्रेम के अभाव में राष्ट्रोन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र के उद्धार के लिए त्याग-भावना और सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण राष्ट्र और उसके प्रचारक एवं व्यवस्थापक राष्ट्रस्थविरों का अभाव है। राष्ट्रोद्धार के पुनीत यज्ञ में, राष्ट्रस्थविरों को अपनी समस्त शक्तियां समर्पित कर देनी पड़ती है। प्रत्येक उन्नत वस्तु इस बात का जीता जागता प्रमाण है कि सर्वस्व समर्पण बिना किसी भी राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता। गांव और नगर नगर-नगर में राष्ट्रसेवकों के जो स्मारक खड़े किये जाते हैं, वे स्मारक अपनी मौनमयी भाषा में राष्ट्रोद्धार के लिए जीवनोत्सर्ग-आत्मबलिदान-शहीदी-का पाठ पढ़ाते हैं।

महाराणा प्रताप राष्ट्र का सच्चा तेज पुंज था! वह स्वतंत्रता-देवी का सच्चा सपूत था। इस नर-वीर ने स्वतन्त्रा-देवी और भारतमाता की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, वैभव-विलास ठुकराया और स्वेच्छा से गरीबी गले

लगाई । उसने उसने अठारह वर्ष तक अरावली पहाड़ों में, तरह-तरह की मुसीबतें झेली । धूप, उनके मन धूप न थी, ठण्ड उसके मार्ग में वाधक न थी । खाने को अन्न न मिलता तो घास के वीच की रोटियां खा कर रह जाता पर उसने विदेशियों द्वारा स्वदेश को अपमानित न होने दिया । महाराणा प्रताप की महारानी पद्मावती जो राज-महलों में सुखपूर्वक रहती थी, अपने प्राणप्रिय पति की सेवा के लिए पहाड़ों में रहने लगी और पति के सुख—दुख की भागीदार वनकर उसने अर्धांगनी पद को सार्थक किया। राणा की सन्तान रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए करुण रुदन करने लगी । तब प्रताप जैसा प्रतापी पुरुष भी एक वार अस्थिर हो उठा । पर वह नरवीर कष्टों और मुसी-बतों से कहां डरने वाला था । वह तो पराधीनता से डरता था । स्वदेश की स्वतन्त्रा के हेतु वह अपने प्राण भी हंसते-हंसते त्याग सकता था । स्वदेश की स्वतन्त्रा उसे इतनी प्रिय थी कि उसके लिए उस वीरश्रेष्ठ ने संसार के समस्त भोग-विलास ठुकरा दिये और स्वेच्छा से कष्ट एवं दुःख अंगीकार किये ।

किसी भी देश की प्रजा में जब तक स्वतन्त्रता के लिए त्याग और साहस की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक राष्ट्रधर्म का भलीभांति पालन नहीं किया जा सकता और फल स्वरूप न तो राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, न प्रतिष्ठा कायम हो सकती है ।

जिस देश में प्रताप जैसे स्वतन्त्रा के पुजारी ने जन्म लिया, उसी देश में प्रजा आज राष्ट्र के प्रति अपनी कर्त्त-

व्यनिष्ठा भूली हुई है कैसा आश्चर्य !

हम जिस देश का अन्न खाते हैं, उसे अगर भूल जाते हैं तो इससे बड़ी कृतघ्नता और नहीं हो सकती। हमारे पास कौन-सी चीज है जिसका देश के साथ संबंध नहीं है, तो जिस राष्ट्र के उपकार से जीवनव्यवहार चलाते हैं, उस उपकारी राष्ट्र का भी अपकार करना कितना अमानुषिकता है ?

भारत वर्ष में अज्ञान-अन्धकार इतना अधिक फैला हुआ है कि राष्ट्रीय-भावना की ज्योति कहीं दिखाई नहीं देती। इसी अज्ञान की बदौलत भारत के पैरों में पराधीनता की बेड़ियां पड़ी हैं। सन्तोष की बात यही है कि राष्ट्र स्थविरों के सतत प्रयत्न से राष्ट्रीय-भावना की चिनगारियां कहीं-कहीं नजर आने लगी हैं।

मैं पूछता हूं कि समस्त संसार को अज्ञान-अन्धकार से तारने वाले तीर्थंकर भगवान् कहां जन्मे थे ? इसी भारत भूमि में।

जिस भारतभूमि को तीर्थंकरों ने अपने चरणन्यास से पावन बनाई है जिस भूमि पर विचर कर उन महात्माओं ने जन समाज को सत्य धर्म का उपदेश दिया है, उस भूमि का कितना महात्म्य है ? भारत भूमि वास्तव में पवित्र भूमि है, पुण्य भूमि है, धर्मभूमि है।

भूशास्त्रविशारदों ने भारतभूमि की प्रकृति का ठीक, ठीक अध्ययन कर बतलाया है कि भारतभूमि पारसभूमि

है। इस भूमि में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। यह देश आत्मनिर्भरता की दृष्टि से स्वतन्त्र है। किसी भी वस्तु के लिए उसे किसी से याचना करने का जरुरत नहीं है। इसके विपरीत, सुना जाता है कि इंग्लैंड आदि कई एक पाश्चात्य देशों में आलू वगैरह तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं मगर गेहूं आदि खाद्य पदार्थ, जिनके बिना जीवन व्यवहार चल नहीं सकता; बहुत कम होते हैं। अगर भारत या अन्य किसी उपजाऊ देश से वहां गेहूं का निर्यात न किया जाय तो उन देशों के निवासियों को खाने के लाले पड़ जाएं। यह बात हमारे यहां नहीं। अगर कोई चीज यहां बाहर से न आवे तो भी हमारा निर्वाह बखूबी हो सकता है। भारतवर्ष की यह विशेषता है। भारत अगर स्वतन्त्र हो तो सम्पूर्ण विश्व को सुख-शान्ति पहुंचाने का सामर्थ्य उसमें आज भी मौजूद है। पर दीर्घकालीन पराधीनता उस शक्ति को चूसती जा रही है।

भारतभूमि में गंगा यमुना जैसी अनेक विशाल और सुखदायक नदियां बहती हैं और हिमालय जैसा अद्वितीय ऊंचा पर्वत उनकी रक्षा करता है। प्रकृति देवी जिस भारत देव की सेवा करती है, वहां अगर स्वाभाविक सुख-शांति हो तो आश्चर्य की बात ही कौन-सी है? किसी कवि ने ठीक ही कहा कि—जिस देश में जितने ऊंचे पर्वत होते हैं, उस देश के महापुरुष भी भावना की दृष्टि से उतने ही ऊंचे होते हैं।

भगवान महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों

की भेंट भारत ने विश्व को अर्पित की है। भारत ऐसी रत्नगर्भा भूमि है ! ऐसी पवित्र भूमि का अपमान ही इस भूमि के पुत्र विदेशियों के बन्धन में बन्धे हों यह कितने संताप का विषय है ? इस दयनीय दशा का प्रधान कारण राष्ट्र के प्रति हृदय में श्रद्धाभाव न होना और राष्ट्रस्थविर की आज्ञा को अन्तर से स्वीकार न करना है। युगधर्म के प्रताप से राष्ट्रधर्म के प्रति श्रद्धाभाव और राष्ट्रस्थविर के प्रति भक्तिभाव प्रकट होता जा रहा है यह आनन्द की बात है।

देश के नायकों का कथन है कि जो मनुष्य अपने राष्ट्र के मानापमान का ध्यान नहीं रखता, उस मनुष्य का नाम त्रिकाल में भी नहीं बढ़ पाता।

राष्ट्र के उद्धार में अपना, समाज का और धर्म का उद्धार है, इस सत्य को जो राष्ट्रसेवक स्वीकार करता है उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि स्वदेशी वस्त्र या स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करने में स्वदेश का, समाज का और ... का उद्धार है और विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तुओं के व्यवहार में स्वदेश, समाज और स्वधर्म का नाश समाया हुआ है। धार्मिक दृष्टिकोण से इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा निश्चय अधिक दृढ़ हो जाएगा।

राष्ट्र का गौरव बढ़ाना प्रत्येक राष्ट्र-प्रजा का पवित्र दायित्व है और इस दायित्व का मान प्रजा को, अपने त्याग द्वारा कराना तथा देश को गौरवान्तिक करना राष्ट्रपति का दायित्व है।

राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है कि प्रजा राष्ट्रधर्म के आगे नतमस्तक हो और राष्ट्रनायक का आदेश शिरोधार्य करे।

४

प्रशास्ता-स्थविर-संरक्षक-स्थविर

(पसत्थाथेरा)

—:❀:—

गुरुदेवोभव

प्रशास्ता-स्थविर मानवसमाज का संस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षण-संस्कृति मानव हृदय में उतारेगा, मानव समाज की भावी घड़न वैसी ही होगी।

जनता के जीवन में धर्मभावना जागृत करने के लिए शिक्षा प्रचार एक अमोघ साधन है। शिक्षा प्रचार द्वारा राष्ट्र, समाज और धर्म के बंधन शिथिल हो जाते हैं या छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। शिक्षा का ध्येय भो बन्धन से मुक्त होना है—'सा विद्या या विमुक्तये।'

मानवसमाज पराधीनता, अज्ञान, निर्बलता, निस्ते-

जता, वासना आदि बन्धनों से बन्धा है। वह विषम परिस्थितियों से जकड़ा है। उसकी अन्तरात्मा जकड़ी रहती है। इन समस्त बन्धनों से छूटना विद्या है। यही शिक्षा है, यही तालीम है। जिसके द्वारा शरीर रोगों एवं दुबलताओं से छूटता है, बुद्धि अज्ञान और कुत्सित विचारों से छूटता है, हृदय कठोरता और कुसंस्कारों से छूटता है और आत्मा कर्म के आवरण से छूटती है, वह शिक्षा है विद्या है, तालीम है।

सच्ची शिक्षा आत्मा को नैसर्गिक रस-वृत्ति को लपटता से मुक्त करती है। शक्ति को मद से मुक्त करती है। आत्मा को कृपणता एवं अहंकार के पंजे से मुक्त करती है।

वास्तविक शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक विशेषताओं को उनकी विरोधी शक्ति एवं विकृतियों से मुक्त करके, निखालिस विकसित स्वरूप प्रदान करती है। इसी से मानव जीवन का संस्कार होता है और वह संस्कार मानव को परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है।

मानवसमाज को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा देने का उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य प्रशास्ता-संरक्षक अर्थात् माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि स्थविरों के सुपुर्द है। प्रशास्ता-स्थविर मानवसमाज का संस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षा संस्कृति मानवहृदय में उतारेगा, मानवसमाज की भावी घड़न वैसी ही होगी। इस प्रकार मानवसमाज का भविष्यनिर्माण प्रशास्ता-स्थविर के हाथ में है।

जिसके हाथ में विश्व का महत्तम कार्य है, वह प्रशास्ता स्थविर कौन हो सकता है ? उसमें कितनी और किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—

'प्रशासति-शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थाविराः।'

अर्थात्- राष्ट्र की भावी प्रजा को जो शिक्षा-दीक्षा देता है, और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है, वह प्रशास्ता स्थविर कहलाता है। 'प्रशास्ता' की व्याख्या में जो गूढ़ अर्थ छिपा है वह विशेष रूप से विचार करने योग्य है।

राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हें-नन्हें बालक हैं। बालकों को छुटपन में, घर में, माता-पिता द्वारा शिक्षा संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण में, भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह बालक के जीवन का भविष्य-निर्माण करता है और इस कारण वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बाल्यकाल में माता-पिता ही बालकों के सच्चे प्रशास्ता-शिक्षक हैं पाठ्यपुस्तकों द्वारा, शिक्षकों द्वारा या धर्मगुरुओं द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है, वह बाल-मानव में इतना जीवन-स्पर्शी नहीं होता, जितना माता-पिता द्वारा शैशवकाल में प्रदत्त संस्कार होता, जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सब इसी नतीजे पर पहुंचे हैं।

बालक-मानस इतना अधिक निर्मल होता है कि जैसे संस्कारों की छाप उन पर अंकित की जाय, वह बहुत शीघ्र स्थायी रूप से अंकित हो जाती है।

बालजीवन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के लिए घर ही पाठ्यपुस्तक है। माता-पिता ही बालक के सच्चे शिक्षक हैं और सुन्दर आचार-विचार ही उनको सच्ची शिक्षा है। जैसे नीति-नियम, वर्त्ताव, धार्मिक विचार माता पिता के होंगे, वैसे ही संस्कार उनके बालक में प्रतिबिम्बित होंगे, स्पष्ट है कि भावी प्रजा के जीवन को संस्कारिता का उत्तरदायित्व माता-पिता पर अत्यधिक है।

माता-पिता सौ शिक्षकों का काम देते हैं, यह कथन जितना सत्य है, उतना ही आदरणीय और आचरणीय है। मगर माता-पिता अगर सुशिक्षित और सुसंस्कृत हों तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने से पहले ही मनुष्य को शिक्षित और संस्कारी बनना आवश्यक है।

बालक का जीवन अनुकरणीय होता है। वह बोलते चालते, खाने-पीने और कोई भी काम करते घर का और विशेषत: माता-पिता का ही अनुकरण करता है। क्या बोलचाल, क्या व्यवहार, क्या मनोवृत्तियां, उन्हीं लोगों की नकल होती हैं, जो सदा उसके आसपास रहते हैं और जिनके प्रति उसके हृदय में स्नेह का भाव उपज आता है अतएव प्रत्येक संरक्षक को क्या यही सोचना चाहिए कि अगर हम बालकों को संस्कृत, सदाचारी, विनीत और धार्मिक बनाना

चाहते है तो हमारे घर का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए ?

जहां माता छिन्न-छिन्न में गालियां बड़बड़ाती हो, पिता-माता पर चिढ़ता रहता हो और उद्धततापूर्ण व्यवहार करता हो, वहां बालक से क्या आशा की जाय ? हजार यत्न करो, बालक को डराओ धमकाओ, मारो, पीटो फिर भी वह सुसंस्कारी या विनयी नहीं बन सकता ।

बालक को डरा, धमका कर या मारपीट कर अथवा ऐसे ही किसी अन्य हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन लेकर नहीं सुधारा जा सकता । इन उपायों से वह एक दुर्गुण-हिंसात्मक प्रावृत्ति करना और सीख लेगा ।

बालकों को डराने धमकाने वाले माता-पिता पूछेंगे-इसमें हिंसा कहां है ?

यद्यपि इस प्रवृत्ति में साफ हिंसा है—बालहत्या है, फिर भी विशेष स्पष्टीकरण के लिए भय की प्रणाली की जरा पृथक्करण कीजिए :—

जब बालक होता है, मचलता है या कहा नहीं मानता, तो सर्वप्रथम उसके हितेच्छुतों को उसके प्रति आवेश आता है । आवेश आते ही मुख से गालियों की वर्षा आरम्भ हो जाती है । फिर लात-घूंसे आदि से उस अनजान और बेचारे बालक पर हमला किया जाता है ।

इस क्रिया में आवेशवृत्ति हिंसा है, गाली देना हिंसा है और मारपीट करना हिंसा है । यह क्रिया आदि से अ

तक हिंसा के सिवा और क्या है ?❀

आवेश आते ही मनुष्य भले बुरे का भान भूल जाता है। इस भाव के अभाव में भाषा का विवेक चूक जाता है। इतने से खैर नहीं होती। कभी-कभी तो इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है—इतना भयंकर कि माता-पिता को आजीवन पछताना पड़ता है। वास्तव में यह प्रणाली बालकों के लिए लाभ के बदले हानि उत्पन्न करती है। इससे बालक गालियां देना सीखता है, मारपीट करना सीखता है और सदा के लिए ढीठ बन जाता है। ढिठाई में से और अनेक दुर्गुण फूट पड़ते हैं। इस प्रकार बालक का सारा जीवन बर्बाद हो जाता है। यह सब हिंसा नहीं है तो क्या अहिंसा है ? इसमें द्रव्यहिंसा है भावहिंसा है, आत्महिंसा है, परहिंसा है।

विवेकशील माता-पिता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करते। वे आवेश पर अंकुश रखते हैं। बालक की परिस्थिति समझने का यत्न करते हैं। उसे सुधारने के लिए घर का वातावरण सुन्दर बनाते हैं। ऐसा करने से माता पिता के जीवन का भी विकास होता है और बालक के जीवन का भी। वे भली-भांति जानते हैं कि बालक अगर रोता है तो उसका इलाज डराना नहीं है रोने के कारण को खोजकर दूर करना है। इसी प्रकार बालक में अगर

❀प्रश्नव्याकरण सूत्र में, हिंसा के नाम गिनाते समय 'बीहनक' को भी हिंसा बतलाया गया है। बीहनक का अर्थ है—भय दिखाना, किसी को डराना हिंसा है।

कोई दुर्गुण उत्पन्न हो गया है तो उसे वह अपनी ही किसी कमजोरी का फल समझते हैं—समझना चाहिए। संरक्षक की किसी दुर्बलता के बिना बालक में दुर्गुण क्यों पैदा हो? इस अवस्था में उसके वास्तविक कारण को खोज निकालना और दूर करना ही उसका इलाज है। समझदार माता-पिता ऐसे प्रसग पर धैर्य से काम लेते हैं।

भय डराने वाले और डरने वाले के अन्तरंग या बहिरंग मर्म पर अनेक प्रकार से आघात करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि भय हिंसा रूप है। आत्मा के गुणों का घात करने वाली प्रवृत्ति करना हिंसा है और जो प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है, यह जैनागम का विधान है।

आजकल माता-पिता को सद्धर्म की उन्नत भावना की तालीम लेने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन में देखा गया है कि आज के माता–पिताओं के मन कामवासना से वासित हैं। दोनों के मन क्लेश के रंग में रंगे हुए हैं और बात-बात में वे अश्लील वाक्-प्रहार और अवसर मिले तो ताडन–प्रहार करते भी संकोच नहीं करते। जहां यह स्थिति है वहां भला शिक्षा और संस्कृति किस प्रकार हो सकता है?

माता-पिता का जीवन जब तक शिक्षित, संस्कृत और आदर्श न बने तब तक भविष्य की प्रजा में सुसंस्कारों का सिंचन नहीं हो सकता। अतएव भविष्य-कालीन की प्रजा की भलाई के लिए माता-पिता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिये।

माता-पिता को और समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि आज का बालक ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, तैसे-तैसे वह व्यवहारिक एवं धार्मिक शिक्षा लेने के योग्य बनता जाता है। बालक घर की शाला छोड़कर पाठशाला जाता है और वहां अक्षर ज्ञान सीखता है। एक ओर अक्षरज्ञान सीखकर बालक व्यवहारिक शिक्षा ग्रहण करता है और दूसरी ओर धर्मस्थानकों में जाकर निस्पृह धर्मगुरुओं से नीति और धर्म की शिक्षा लेता है। इस प्रकार दोहरी शिक्षा रूपी दो पंखों से वह उन्नति के असीम व्योम में विचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और जीवन की समग्रता साधता है।

पाठशाला में माता-पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है। शिक्षक, बालकों को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षक धर्म निभाता है। बालक अपनी किशोर अवस्था में शिक्षा का संचय करता है। आजकल की शिक्षा प्रणाली उसे शिक्षादान देकर ही कृतार्थ मान लेती है मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। यह बात है—शिक्षा को जीवन में मूर्त रूप देना। शिक्षा को सिर्फ दिमाग में स्थान देने से, उसे जीवन व्यवहार में एक रस न बनाने से, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। ऐसे लोग शिक्षित भले ही कहलावें पर संस्कारी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। शिक्षा उनके मस्तिष्क का बोझ मात्र होती है, जब कि वह जीवन का संस्कार बननी चाहिये। अतएव शिक्षक को इस ओर पूरा लक्ष्य देना

चाहिए। इसी में बालक के भावी जीवन का भाग्योदय है।

बालकों का भावी जीवन सुखी बनाने के लिए व्यवहारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता धार्मिक शिक्षा की भी है। इसका कारण यह है कि जीवन में प्रवृत्ति को जितना स्थान है उससे अधिक महत्वपूर्ण स्थान निवृत्ति को प्राप्त है। जीवन का अन्तिम ध्येय परिपूर्ण निवृत्ति है। प्रवृत्ति क्लेश और व्याकुलता को जन्म देती है, निवृत्ति से निराकुलता संतोष, शांति और एक प्रकार के अनुभवगम्य सुख की उपलब्धि होती है। अतएव निवृत्तधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बालकों को धर्म शिक्षकों के समीप जाना चाहिए। बचपन में धर्मोपदेश सुनने से निवृत्ति-शिक्षा का अक्षरज्ञान प्राप्त होता है।

माता-पिता के, शिक्षक के और धर्म शिक्षक के जो संस्कार बाल्यावस्था में, बालक में दृढ़ हो जाते हैं, वे बड़ी उम्र में दृढ़ नहीं होते। बालक प्रशिक्षण किसी न किसी प्रकार के संस्कार अपनाता रहता है। उसका हृदय दर्पण के समान है, जिस पर सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती ही है। ऐसी अवस्था में हम अगर बालक का हृदय अभीष्ट संस्कारों से युक्त न बनाएंगे तो वह 'अनभीष्ट' संस्कारों को ग्रहण करेगा। बड़ी उम्र में अगर वे अनभीष्ट-अवांछनीय संस्कार दृढ़ हो गये तो उन्हें दूर करके, नये वांछनीय संस्कारों का आरोपण करना अत्यन्त कठिन होगा। उस हालत में दोहरा परिश्रम करना पड़ेगा—प्रथम तो पुराने संस्कारों का जो बद्धमूल हो चुके हैं, उन्मूलन करना, फिर नवीन संस्कारों का बीज बोकर उनका सिंचन

करना, पनपाना और अंकुरित करना। अगर पुरातन अवांछनीय संस्कारों की दृढ़ गहरी चली गई हो तो उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना अशक्य हो जाता है। उस हालत में माता पिता पश्चात्ताप करते हैं, झल्लाते हैं, अपने भाग्य को कोसते हैं और अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं। अतएव दूरदर्शी मां-बाप और शिक्षक को उचित है कि वह बालक में, बचपन में बोये हुये संस्कार बड़ी उम्र में सुदृढ़ हो जाएंगे और फिर कुसंस्कारों को बालक के हृदय में स्थान न मिलेगा।

राष्ट्र की भावी प्रजा बालक-बालिका, कुमार-कुमारिका, पुत्र-पुत्री दोनों का समावेश होता है। जैसे बालकों को व्यवहारिक एवं धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता है, उसी प्रकार बालिकाओं को भी व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा के संबंध में पुत्र और पुत्री में भेद रखना उचित नहीं है। बालिकाओं और कुमारिकाओं की शिक्षा का तौर-तरीका कुछ भिन्न हो सकता है, शिक्षा कुछ विषयों में भी भिन्नता हो सकती है—होनी चाहिए, परन्तु उनकी शिक्षा को वही महत्व मिलना चाहिए जो बालकों और कुमारों की शिक्षा को प्राप्त है। जो शिक्षक पुत्र और पुत्री, बालक और बालिका में शिक्षा-दीक्षा के विषय में, भेदभाव रखता है, ऊंची-नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

शिष्य की योग्यता के अनुकूल शिक्षा का विभाजन करना और शिक्षा के विपर्यास से बचना स्थविर का मुख्य

कर्त्तव्य है । बालकों को बालपयोगी, कुमारों को कुमारोपयोगी, युवकों को युवकोपयोगी, प्रौढ़ों को प्रौढ़ोपयोगी एवं वृद्धों को वृद्धोपयोगी तथा बालिकाओं को बालिकोपयोगी कुमारिकाओं को कुमारिकोपयोगी युवतियों को-युवती उपयोगी, प्रौढ़ाओं को प्रौढ़ा-उपयोगी और वृद्धाओं को उनके उपयोगी, शिक्षा-दीक्षा देना, शिक्षा की साधन-सामग्री जुटाना, उसकी समुचित व्यवस्था करना, इन सब बातों की ओर प्रशास्ता स्थविर को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । इस प्रकार का विभाजन न करके, सब धान बाईस पसेरी तोला जायगा—एक-सी शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के विषय में बड़ा विसंवाद पैदा हो जायगा । उस हालत में शिक्षा का स्वभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही संभावना होगी । अतएव सब प्रकार के विसंवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना प्रशास्ताओं का मुख्य कर्त्तव्य है ।

बालकों को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है । केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी नहीं होती । यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वाङ्गीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के विकास पर निर्भर करता है । इस ओर ध्यान देना प्रशास्ताओं का दूसरा कर्त्तव्य है ।

प्रशास्ताओं का तीसरा कर्त्तव्य है कुमार-कुमारिकाओं के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध

करना। जब बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योग शिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा पंगु है—एकांगो है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है—धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना जीवन के व्यवहारिक कार्यों का श्रम हलका करने के लिए आध्यात्मिक शांति की अपेक्षा होती है। और आध्यात्मिक शांति धर्मशिक्षा से मिलती है। अतएव बालक-बालिका में धार्मिक संस्कार दृढ़ शिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य लेनी चाहिए।

प्रशास्ताओं का पांचवा कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा-दीक्षा देने में किसी प्रकार का जातिभेद या वर्णभेद का सामाजिक अंतराय हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करें। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के बाधक तत्त्व है।

प्रशास्ताओं का छठा कर्त्तव्य है—शिक्षा में भय, या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना। क्योंकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डर कर भूल जाता है। अतएव विद्यार्थियों के हित के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओं का सातवां कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियों को पढ़ने, समझने, याद करने में सुगम, सरल और बोधप्रद पाठ्य पुस्तकों द्वारा, जो राष्ट्रीय भाव में लिखी हों, शिक्षा दें जिससे विद्यार्थियों का थोड़े समय में अधिक लाभ

हो सके और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवाँ विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कभी २ कामोद्दीपन करने वाले साधनों का उपयोग करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी साधना में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और कामशामक वायुमण्डल पैदा करना प्रशास्ताओं का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का नौवां कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दें जो केवल तोता रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियों की तर्क शक्ति और अलोकन शक्ति बढ़ाने वाली, साथ ही विषय का तल-स्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओं का दसवां कर्त्तव्य है— विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना जिससे उनमें राष्ट्र, धर्म राष्ट्र नेता के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृभूमि के प्रति अपने समाज के प्रति, अपने धर्म के प्रति कर्त्तव्य भावना जागे और उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र, समाज एवं देश की रक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यता है।

प्रशास्ताओं का ग्यारहवां कर्त्तव्य है–विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किसी विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस सम्बन्ध में

भलीभांति जांच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिये। उसी में पारगत बनाना चाहिये। शेष उपयागी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिये। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य विषयों से उसका रुचि पैदा करना आवश्यक है। जान पड़ता है इस प्रकार की शिक्षा-योजना से विद्यार्थियों का पर्याप्त विकास होगा और उनका जीवन व्यवहार सुन्दर रूप से चलेगा।

सारांश यह है कि कुमार-कुमारिकाओं को कैसी शिक्षा, कब और किस प्रकार देनी चाहिए? इत्यादि शिक्षा सम्बन्धी सब प्रकार का विचार करना और तदनुकूल व्यवस्था करना प्रशास्ता का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ता, एक क्षण के लिए भी यह बात न भूले कि उसके ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र, समाज और धर्म की गम्भीर जवाबदारी है।

भावी प्रजा में स्वदेश के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न करने वाली शिक्षा प्रणाली ही ग्राह्य होनी चाहिये। देशांतरों का इतिहास तो रटाया जाय पर अपने देश का और अपने गांव का ठीक-२ पता हो न हो, यह शिक्षा प्रणाली का दूषण है। सच्ची शिक्षा वही है जिससे राष्ट्रीय हित का साधन हो। शिक्षा के ऊपर ही राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्रीय हित में कोई सहायता नहीं मिलती, वह भी कोई शिक्षा है?

आज भारतवर्ष की शिक्षाप्रणाली ऐसी दोषपूर्ण है

कि वह राष्ट्रीय भावना का विनाश कर देता है। शिक्षण शालाओं के अधिकारियों की इच्छा भी यही रहती है कि देश की भावी प्रजा विदेशी जीवन व्यतीत करे और उसमें राष्ट्रीयभावना पनपने न पावे। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे ऐसी शिक्षा प्रणाली की योजना करते हैं, जो राष्ट्रीयता का पोषण न करे वरन् परदेश के प्रति गौरव का भाव ही विद्यार्थियों के हृदय में उत्पन्न करे। सचमुच राष्ट्र के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जो लोग भविष्य में देश के भाग्यविधाता बनने वाले हैं, उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से कोरा रखना देश के प्रति कितना बड़ा अन्याय है? ऐसी शिक्षा असल में शिक्षा ही नहीं। वह तो भावी प्रजा को गुलामी की बेड़ी में जकड़ने के लिए फन्दा है। इस फन्दे को काट फेंकना प्रशास्ता का काम है। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते हैं वे भला प्रजा को राष्ट्रीयता की शिक्षा क्यों देने लगे? ये लोग जिस ध्येय से भारत में आये हैं, इसकी पूर्ति के लिए गुलाम बनाने वाली शिक्षा पद्धति जारी करे यह स्वभाविक है। पर प्रशास्ताओं को सावचेत होना चाहिए।

एक जमाना था जब समग्र भारतवर्ष में अपनी प्रजा को राष्ट्रीय शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण राष्ट्र का मस्तक ऊंचा रहता था। जनता भी सुखशान्ति में रहती थी।

[श्रोता—पहले के व्यापारियों के पास इतनी धन-सम्पत्ति नहीं था, जितनी आजकल के व्यापारियों के पास

है। मारवाड़ प्रान्त में हजारों लखपति रहते हैं। वहां मजदूर भी सोने के गहने पहनते हैं। पहले लोग अपने ही गांव में रहते और नमक-मिर्च बेच कर किसी कदर गुजर चलाते थे। आज अंग्रेजी शिक्षा के प्रताप से लोग बम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे विशाल नगरों में पहुंच कर बड़ा व्यापार करते हैं। क्या यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रताप नहीं है ?]

इस प्रश्न के उत्तर में मैं पूछना चाहता हूं कि मारवाड़ के बड़े-बड़े व्यापारियों ने बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में जाकर जो धन-सम्पत्ति पाई है वह सब भारत की है या विदेश की।

'है तो भारत ही की।'

तो इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोहू समस्त शरीर में चक्कर लगा रहा था, वह एक जगह स्थिर होकर जम गया है। अर्थात् एक पैर तो खम्भे के समान मोटा हुआ और दूसरा बेंत की पतली छड़ी के समान पतला। अगर किसी के शरीर की ऐसी दशा हो जाय तो क्या वह स्वस्थ और सुन्दर कहलाएगा ? नहीं। जब शरीर के किसी एक अंग का लोहू दूसरे अंग में चला जाता है और वह दूसरा अंग रक्तहीन हो जाता है, तब वह शरीर का विकास नहीं वरन् विकार गिना जाता है। इस विकार का परिणाम है, शरीर को सफलता नष्ट हो जाना और निर्बलता पैदा हो जाना।

यही बात धन के सम्बन्ध में है। गरीबों की रोटी

छीनकर जो धन एकत्र किया जाता है उससे समाज और देश में अस्वस्थता एवं निर्बलता उत्पन्न होती है । ऐसे समाज या राष्ट्र में भांति-भांति के विकार आ घुसते हैं । भला ऐसे धन के संचय से क्या लाभ हुआ ? धन बढ़ने के साथ दूसरों के कल्याण की भावना बढ़े तब तो धन का बढ़ना कहा जा सकता है । जहां रुपया-पैसा बढ़ता है पर जनकल्याण की भावना नहीं बढ़ती वहां धन की वृद्धि या हानि दोनों बराबर है ।

आजकल लोग तन, मन बेचकर धन इकट्ठा करने का उद्योग करते है । धनवान् हो जाते तो फूले नहीं समाते। पर जब तन और मन अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं तब यदि कोई गरीब मगर सबल मनुष्य उनके सामने लट्ठ तानकर खड़ा हो जाता है तो निस्तेज पैसे वाले घबरा जाते हैं और दूसरे से अपनी रक्षा कराते हैं । यह दयनीय दशा भी क्या सुखजनक है ?

धनवान् लोग धन के बल से अपनी रक्षा की आशा करते हैं । पर वास्तव में तन और मन को सब सबल बनाये बिना धन से रक्षा नहीं हो सकती । तन और मन को सबल बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है । अपनी पौर्वात्य शिक्षक-संस्कृति तन-मन को सबल-स्वस्थ बनाने की सर्वप्रथम आवश्यकता अनुभव करती है । जब कि आज की पाश्चात्य शिक्षण-संस्कृति तन-मन को बेचकर भी धन कमाने का शिक्षण देती है । अगर तन-मन सबल और स्वस्थ होता तो धन दौड़ता चला आएगा । इसके विपरीत अगर तन और मन अस्वस्थ एवं निर्बल

है। मारवाड़ प्रान्त में हजारों लखपति रहते हैं। वहां मजदूर भी सोने के गहने पहनते हैं। पहले लोग अपने ही गांव में रहते और नमक-मिर्च बेच कर किसी कदर गुजर चलाते थे। आज अंग्रेजी शिक्षा के प्रताप से लोग बम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे विशाल नगरों में पहुंच कर बड़ा व्यापार करते हैं। क्या यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रताप नहीं है ?]

इस प्रश्न के उत्तर में मैं पूछना चाहता हूं कि मारवाड़ के बड़े-बड़े व्यापारियों ने बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में जाकर जो धन-सम्पत्ति पाई है वह सब भारत की है या विदेश की।

'है तो भारत ही की।'

तो इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोहू समस्त शरीर में चक्कर लगा रहा था, वह एक जगह स्थिर होकर जम गया है। अर्थात् एक पैर तो खम्भे के समान मोटा हुआ और दूसरा बेंत की पतली छड़ी के समान पतला। अगर किसी के शरीर की ऐसी दशा हो जाय तो क्या वह स्वस्थ और सुन्दर कहलाएगा ? नहीं। जब शरीर के किसी एक अंग का लोहू दूसरे अंग में चला जाता है और वह दूसरा अंग रक्तहीन हो जाता है, तब वह शरीर का विकास नहीं वरन् विकार गिना जाता है। इस विकार का परिणाम है, शरीर को सफलता नष्ट हो जाना और निर्बलता पैदा हो जाना।

यही बात धन के सम्बन्ध में है। गरीबों की रोटी

छीनकर जो धन एकत्र किया जाता है उससे समाज और देश में अस्वस्थता एवं निर्बलता उत्पन्न होती है । ऐसे समाज या राष्ट्र में भांति-भांति के विकार आ घुसते हैं । भला ऐसे धन के संचय से क्या लाभ हुआ ? धन बढ़ने के साथ दूसरों के कल्याण की भावना बढ़े तब तो धन का बढ़ना कहा जा सकता है । जहां रुपया-पैसा बढ़ता है पर जनकल्याण की भावना नहीं बढ़ती वहां धन की वृद्धि या हानि दोनों बराबर है ।

आजकल लोग तन, मन बेचकर धन इकट्ठा करने का उद्योग करते है । धनवान् हो जाते तो फूले नहीं समाते। पर जब तन और मन अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं तब यदि कोई गरीब मगर सबल मनुष्य उनके सामने लट्ठ तानकर खड़ा हो जाता है तो निस्तेज पैसे वाले घबरा जाते हैं और दूसरे से अपनी रक्षा कराते हैं । यह दयनीय दशा भी क्या सुखजनक है ?

धनवान् लोग धन के बल से अपनी रक्षा की आशा करते हैं । पर वास्तव में तन और मन को सब सबल बनाये बिना धन से रक्षा नहीं हो सकती । तन और मन को सबल बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है । अपनी पौर्वात्य शिक्षक-संस्कृति तन-मन को सबल-स्वस्थ बनाने की सर्वप्रथम आवश्यकता अनुभव करती है । जब कि आज की पाश्चात्य शिक्षण-संस्कृति तन-मन को बेचकर भी धन कमाने का शिक्षण देती है। अगर तन-मन सबल और स्वस्थ होगा तो धन दौड़ता चला आएगा। इसके विपरीत अगर तन और मन अस्वस्थ एवं निर्बल

हुए तो मुट्ठी का धन भी तो नहीं टिक सकता। और अगर टिके भी तो उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में तन-मन को स्वस्थ और सबल बनाने की शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जाती और केवल धनार्जन के लिए तन-मन को निछावर करना सिखाया जाता है, उस देश का उत्थान नहीं पतन होता है। भारत वर्ष को गुलाम बनाने की यह चाबी कार्ल जैसे शासनकारों ने अपने हाथ में ली और भारत के सपूतों को गुलामी की शिक्षा देकर चिरकाल के लिए गुलाम बना डाला। भारत के कोने-कोने में, आज बेकारी का जो भूत भारतीयों को भयभीत करके पास पहुंच रहा है, उसका मुख्य कारण आज की दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली ही है। आज भारत का जीवन-धन-युवक पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली के फेर में पड़कर नेस्त-नाबूद हो गया है। आज का नौजवान जिसमें गर्म खून असीम उत्साह और स्फूर्ति होनी चाहिए—निर्बल निस्तेज, साहसहीन, अकर्मण्य, हतोत्साह और निराश नजर आता है। इसका कारण आज की दूषित प्रणाली के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक शिक्षा प्रणाली में मानसिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा को तनिक भी स्थान नहीं है। जब कि प्राचीनकाल में, भारत में शारीरिक मानसिक, औद्योगिक, संगीत, वाद्य आदि बहत्तर कलाओं की शिक्षा दी जाती थी और इन कलाओं में कुशल मनुष्य ही शिक्षित माना जाता था। जिसने बहत्तर कलाएं सीखी होंगी वह क्या कभी धन के लिए दूसरों का मुंह ताकेगा? क्या वह नौकरी के लिए दर-दर भटकता फिरेगा? बहत्तर कलाओं का पण्डित स्वतन्त्र व्यवसाय करता है। कला शिक्षण से

उसका दिल दिमाग ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी की नौकरी या गुलामी नहीं कर सकता। कलाविद् का मानस सदा स्वाधीन होना है। वह किसी का वशवर्त्ती होकर नहीं जी सकता। आज का एम.ए. (M A) भले ही समस्त कलाओं का अधिपति (Master of Arts) गिना जाता हो, पर वास्तव में वह एक भी लजा का पूर्ण पण्डित नहीं होगा। हां, वह कला की विवेचना करने में एक बड़ा सा पोथा रच सकता है, पर उसके जीवन में, कला का स्पर्श तक नहीं होने पाता। यही कारण है कि कलाओं का मास्टर पचास साठ रुपया मासिक की कमाई के लिए दर-दर भटकता है। सच तो यह की शिक्षा दी जाती है। गुलामी शिक्षा' के बदले कला की शिक्षा का प्रबन्ध करना प्रशास्ता-स्थविर का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य है। म. गांधी के दिग्दर्शन में हमारे यहां राष्ट्रीय विद्यापीठों की जो व्यवस्था की गई थी वह शिक्षा के क्षत्र में एक बहुमूल्य कदम था। यद्यपि उसमें भी कई-एक सुधारों को अवकाश था। खेद है कि अब उस ओर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। स्वतन्त्र भारत शिक्षा पद्धति में आमूल सुधार करेगा।

यह कौन नहीं जानता कि आज की प्रजा ही कल देश की भाग्यविधात्री होगी? पर साथ ही यह जानने की जरुरत है कि उसे उन्नत बनाकर भाग्यविधात्री बनाने में ही मानवजाति का कल्याण है।

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में थोड़ा कहा जा चुका है। यहां इतना और कह देना आवश्यक है कि मनुष्य समाज

के भाग्यचक्र की धुरी स्त्री जाति है। उसे शिक्षित बनाने में थोड़ी-सी भी उपेक्षा सह्य नहीं होनी चाहिए ? यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता, अर्थात् जहां स्त्रीजाति की पूजा होती है वहां देवता रहते हैं, इस ऋषिवचन में स्त्रीजाति को सम्मान देने की जो उदात्त भावना विद्यमान है उसे मूर्त्त रूप देना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है।

स्त्री और पुरुष दोनों जीवन-रथ के चक्र हैं। इन दोनों चक्रों में से अगर एक चक्र असमान, टूटा-फूटा हुआ तो जीवनरथ आगे बढ़ सकता। आज हमारे जीवन व्यवहार में अनेक प्रकार के जो विसंवाद दिखाई पड़ते हैं, उनका एक महत्वपूर्ण कारण जीवनरथ के चक्रों की असमानता भी है।

जैसे पुरुष जाति को शिक्षा-दीक्षा देने की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, उसी प्रकार स्त्री जाति के लए भी शिक्षा–दीक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

आज की बालिका भविष्य की माता है। कहने की आवश्यकता नहीं की राष्ट्रोद्धार में माता का स्थान कितना महत्वपूर्ण है ? भविष्य में जो माता के पद को गौरवान्वित करेगी, आज की उस बालिका को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए, यह विचार करना प्रशास्ता का काम है। बालिकाओं को सिलाई गुंथाई, अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान, व्यवहारिकज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है पर पाकविद्या बाल संगोपन आदि का सक्रिय ज्ञान देने की उससे भी अधिक आवश्यकता है। स्त्री जाति में सहिष्णुता’ कोमलता और

सेवापरायणता का गुण प्राकृतिक है। प्रशास्ताओं को चाहिए कि वह ऐसी योजना करे जिससे उनके प्राकृतिक गुणों का विकास हो और उनका मानवजाति की भलाई में उपयोग हो ?

स्त्री शक्ति एक प्रचण्ड शक्ति है। इस प्रचण्ड शक्ति के अनुपयोग से विश्व का कल्याण साधा जा सकता है। नारी-जागरण के बिना राष्ट्रोद्धार की कल्पना भी मूर्त्त रूप धारण नहीं कर सकती जो महाशक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकती है उसे दबाये रखने से उद्धार के बदले कितना अधःपतन होता है, यह बात आज के स्त्रीजीवन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी। आज का स्त्रीजीवन मानों पुरुषों की वासना तृप्त करने का ही एक जीवित पुतला सा बन रहा है। सामाजिक रूढ़ियों के अंधकार में उस जीवन का तेज विलीन हो गया है। वास्तव में, स्त्री जाति में भी पुरुष के समान बुद्धि, शक्ति और तेजस्विता हैं। भारतीय साहित्य में, स्त्रीजाति के त्याग और उनकी अनुपम सेवा के अनेक आदर्श दृष्टांत उपलब्ध होते है। स्त्री जाति की उपेक्षा करके अब तक कोई भी राष्ट्र समुन्नत नहीं बन सका है और नहीं बन सकता है। स्त्रीजाति के सहयोग से ही पुरुष जाति स्वपर का कल्याण कर सकती है। अतएव स्त्रीजाति की शक्ति विकसित करने के साधन प्रस्तुत करना, इस सम्बन्ध में जनता का पथ प्रदर्शित करना और स्त्रीशक्ति का राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य में उपभोग करना प्रशास्तास्थविर का कर्त्तव्य है।

आज स्त्रीजाति की हीनावस्था पर दृष्टिपात करने से

प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी को दुःख हुए बिना न रहेगा। अगर इस हीनावस्था के कारणों की जांच की जाय तो मालूम होगा कि स्त्रीजाति को समुचित शिक्षा न देना ही इस हीनावस्था का प्रधान कारण है।

भले ही थोड़े शहरों में, बालिकाओं को शिक्षा का थोड़ा बहुत प्रबन्ध हो, परन्तु ग्रामों में, जहां नारीजाति का जीवन सेवा पर अवलम्बित है, जरा भी व्यवस्था नहीं होती। इस कारण वे एक गांव से दूसरे गांव तक अकेली नहीं जा सकती और छोटे से छोटे कार्य में भी उन्हें पुरुष की अपेक्षा रहती हैं। वह दूसरे का मुंह ताकती बैठी रहती है। इस पर निर्भरता का अन्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी जाय।

जहां कहीं नगरों में कन्याओं को शिक्षा दी जाती है वह प्रायः जीवन विकास की नहीं वरन् जीवनविकार की शिक्षा होती है। आज स्त्रीशिक्षा में विलासिता ऐसी आ चुकी है कि उसने शिक्षा का हेतु ही नष्ट कर दिया है। अक्सर इस शिक्षा से शिक्षित कन्या सेवा और संयम की मूर्ति बनने के बदले विलासिता की मूर्ति बन जाती है। यह स्त्रीशिक्षा की प्रणाली का दोष है। प्राचीन दोष है। प्राचीन काल में स्त्रीशिक्षा का अभाव था, यह बात नहीं है। उस समय स्त्रियां 'स्त्रीशिक्षा' प्राप्त कर, पण्डित बन-कर सुन्दर जीवन-व्यवहार चलाती थी और आदर्श दाम्पत्य जीवन का उदाहरण सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती थी। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े पण्डितों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका बनने का गौरव भी उन्हें प्राप्त होता था।

कहते है, मण्डनमिश्र और शंकराचार्य जैसे दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में मंडनमिश्र की पत्नी ''भारती' निर्णायिका बनी थी। कई दिनों के शस्त्रार्थ के पश्चात् विदुषी भारती ने निर्णय दिया था—शंकराचार्य जीते और मेरे पतिदेव पराजित हुए।' इस दृष्टान्त से उस समय की स्त्री जाति की प्रमाणिकता और विनीतता पर भी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

आज अगर कोई स्त्री साधारण पढना-लिखना सीख लेती है तो क्या पूछना बात? उसके खान पान में, रहन-सहन और पहनावे में एकदम परिवर्तन हो जाता है। वह अपने आपको पढ़ा-लिखी साबित करने के लिए विदेशी महिलाओं की भांति विलासिता और फैशन में डूब जाती है। अन्ध-अनुकरण की वृत्ति शिक्षा का कुफल है।

दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्रियों को स्नेह, सद्भाव, सादगी नम्रता, संस्कारिता आदि सद्-गुण अपनाने चाहिए। अपनी प्राचीन संस्कृति स्त्रीजाति को सस्कार और शिक्षण द्वारा स्त्रीजीवन को सुखमय बनाने की सलाह देती है आज पाश्चात्य शिक्षा ने अपनी प्राचीन संस्कृति का आदर्श विनष्ट कर दिया है। आज वह शिक्षा दी जा रही है जिससे स्त्रीधर्म के अभ्युदय के बदले स्त्रीधर्म के आदर्श का अधःपतन हो रहा है।

प्रचलित शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करके जब तक राष्ट्रीय पद्धति द्वारा इसको शिक्षित-दीक्षित न किया जायगा तब तक राष्ट्र के कल्याण की क्या आशा की जा सकती है? मगर यह तब हो सकता है जब राष्ट्र का

शिक्षा विभाग प्रशास्ता स्थविर के हाथों में सौंप दिया जाय और उसी की सूचनाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षा विभाग जब राष्ट्र के सूत्रधारों के हाथ में आएगा तभी हमारी अगली पीढ़ी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व और प्रचलित शिक्षापद्धति की बुराइयां समझ सकेगी। तब प्रशास्ता स्थविरों की प्रेरणा से भावी प्रजा राष्ट्रोद्धार के कार्य में जुटेगी और राष्ट्र का मुख उज्ज्वल होगा।

५

कुल-स्थविर

(कुल-थेरा)

भारत वर्ष विशाल देश है। इसी कारण सदा से यहां विभाजित शासन प्रणाली चली आई है। एक ही शासक सब कार्यों को भलीभांति सम्पन्न नहीं कर सकता इस दृष्टि से शास्त्र में कुलधर्म की और उसकी व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर की व्याख्या की गई।

कुलस्थविर दो प्रकार के होते हैं (१) लौकिक कुलस्थविर (२) लोकोत्तर कुलस्थविर। कुलधर्म समुचित व्यवस्था करने वाला अर्थात् किन कार्यों से कुल की उन्नति

और किन से अवनति होगी, इस बात का विचार करके विधि निषेध करने वाला कुल-स्थविर कहलाता है। सच्चा कुलस्थविर कुलधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, मगर कुल को कलंक नहीं लगने देता। कुलस्थविर अपने कुल को प्रकाशित करने वाला सच्चा कुलदीपक होता है।

दीपक खुद जलता है पर दूसरों को न जलाकर प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जो स्वयं कष्ट सहता है पर कुल से किसी मनुष्य को कष्ट न पहुंचने देकर अपने जीवन-प्रकाश से सम्पूर्ण कुल को प्रकाशित करता है वह वास्तव में कुलदीपक कहलाता है। कुलदीपक बनना सरल नहीं है। कुलदीपक बनने के लिए अपने आपको तपाना होता है—जलाना पड़ता है और सारे कुल को उज्ज्वल बनाने के लिए आत्मज्ञान का प्रकाश प्रकट करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल बड़प्पन पाने के लिए कुलस्थविर का विरुद धारण करता है, कुलोद्धार के लिए कोई काम नहीं करता वह कुलदीपक नहीं वरन् कुलांगार है। कुलांगार कुल को खाक कर डालता है। जबकि कुलदीपक कुल में उजाला करता है। सच्चा कुलदीपक ही कुल—स्थविर बन सकता।

कुलस्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है-सारे कुल में कुटुम्बभावना का बीजारोपण करना। जिस कुल में कुटुम्ब-भावना नहीं होती वह दीर्घजीवी नहीं होता। कुटुम्ब भावना कुलोद्धार का मूल है। कुल में कुटुम्ब भावना लाने के लिए कुलस्थविर को कुल के प्रत्येक सदस्य की सार-

संभाल करनी पड़ती है। प्राचीन काल में, ओसवालों में कुलस्थविर पंच कहलाता था। ओसवालों को किस प्रकार रहना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए और कुलधर्म की रक्षा के लिए किन-किन उपायों की योजना करनी चाहिए, आदि बातें वही पंच या कुलस्थविर तय करते थे। जिन्होंने यह कुल व्यवस्था भंग की है उन्हें उसका दुष्परिणाम भी भोगना पड़ा है। कुलस्थविर की मौजूदगी में, कुल के सिद्धान्तों के विरुद्ध मांस-भक्षण मदिरापान आदि दुर्व्यसनों का सेवन करने का तथा कुल को मर्यादा भंग करके बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह आदि अनुचित कार्य करने का किसी को साहस नहीं होता था। अगर कोई कुल-मर्यादा भंग करता था तो उसे समुचित दण्ड दिया जाता था और उसका पूरी तरह अमल किया जाता था। कुलस्थविर इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे कि कुलमर्यादा का संरक्षण हो कुल को उत्तम रीतियों का यथावत् पालन हो। कुलस्थविर पद का गुरुत्तर भार उठाना साधारण पुरुष के लिए सरल नहीं है। जिससे कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के योग्य अपना व्यक्तित्व बना लिया है वही व्यक्ति कुलस्थविर बन सकता है। वही कुलधर्म को अपना सकता है।

पहले की तरह कुलस्थविर की व्यवस्था न होने से आज कन्याविक्रय, वरविक्रय, बालविवाह, वृद्धविवाह और अनमेल–विवाह आदि अनाचार हो रहे हैं। इतना ही नहीं वरन् इन कुलनाशक विवाहों में बहुत-सा अन्धाधुन्ध खर्च किया जाता है आज समाज की जो अधोदशा दिखाई देती है उसका मूल कारण खोजा जायगा तो ज्ञात होगा

कि योग्यकुलस्थविर न होने से ही यह राक्षसी रिवाक्ष अस्तित्व रख रहे हैं और इनके साथ ही अनेक नवीन बुराइयां पैदा होती जा रही हैं, जिनके कारण कुलधर्म खतरे में पड़ता जाता है।

कुलस्थविर के अभाव में, प्रत्येक कुल में वेहूदे खर्च, वेहूदे व्यवहार और दिखावा वढ़ता जाता है। किसी समय दो-तीन सौ रुपये में विवाह का खर्च बखूबी चल जाता था, आजकल धर्म की अव्यवस्था के कारण दो-तीन हजार खर्च करने पर भी कार्य नहीं चलता। कुल में निरर्थक खर्च वढ़ जाने से समाज में बेकारी वढ़ गई है। समाज का अधिकांश भाग गरीव है। वह विवाह का भारी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकता। नतीजा यह होता है कि उसे अविवाहित ही रहना पड़ता है। लाचारी से स्वीकार किया जाने वाला अविवाहित जीवन प्रायः भ्रष्ट हो जाता है और समाज में पापाचार का कुफल समाज और कुल को भोगना पड़ता है।

कुल की व्यवस्था अगर ठीक हो तो कुल में बाल-विवाह आदि बुराइयां कैसे घुस सकती है? कुल को उज्ज्वल बनाने वाला कुलस्थविर हो तो हजारों पर पानी फेर कर विलासिता का बीजारोपण करने वाले और सदाचार के शत्रु वेश्यानृत्य आदि घृणित रीति रिवाज कैसे चालू रह सकते हैं? जहां भावी प्रजा में इस प्रकार कुसंस्कारों का सिंचन किया जाता है? भावीप्रजा में सत्संस्कार डालना कुलस्थविर का काम है।

सम्पूर्ण कुल की व्यवस्था करना और कुल को उन्नत

बनाने वाले रीतिरिवाजों को प्रचलित करना कुलस्थविर का उत्तरदायित्व है। कुलस्थविर को इस बात की भी सावधानी रखनी पड़ती है कि कुल का खानपान, रीतिनीति आचार-विचार शुद्ध रहे। आजकल कुलधर्म का ठीक-ठीक पालन न करने के कारण ही विवाह के इच्छुक युवकों को मजबूर होकर अविवाहित जीवन बिताना पड़ता है और साठ-साठ वर्ष के जराजर्ण बूढ़े, धन के बल पर आशाभरी कुमारिकाओं के साथ शादी कर लेते है। वृद्ध थोड़े ही दिन में जीवनलीला समाप्त करता है और वह बालिका, युवावस्था से पहले ही वैधव्य का भोग बन जाती है। इस प्रकार एक ओर बूढ़े का विवाह होते हैं और दूसरी ओर नन्हें-नन्हें बालक विवाह की फाँसी पर लटका दिये जाते हैं। इन विधवाओं में कुछ तो इतनी अबोध होती हैं कि उन्हें अपनी स्थिति का भान ही नहीं होता ऐसी अबोध कुमारिकाओं को विधवा बनाने का कारण कुल मर्यादा का उल्लंघन और कुलस्थविर के संरक्षण का अभाव है।

आज बारात सजाकर, माल उड़ाने के लिए, बड़ी-बड़ी बड़ाई मारने वाले स्थविर बरसाती मेंढकों की तरह निकल पड़ते है, मगर यह कौन देखता है कि विवाह न्याय युक्त है या नहीं? प्रीतिभोज तो पहले ही होते थे, वे प्रेम बढ़ाने के लिए। उस समय जबर्दस्ती प्रीतिभोज नहीं कराये जाते थे। आज जो जातिय भोज हैं वे जैसे जाति का दण्ड वसूल करने के लिए अनुचित दवाब डालते हैं, पर इस बात का विचार ही नहीं करते कि बाद में उनकी क्या दशा होगी? जो स्थिति प्रीतिभोज की है वही बल्कि उससे बदतर मृत्युभोज की है। मृत्युभोज से कुल की धनसम्पत्ति

और शरीर-सम्पत्ति का अत्यन्त ह्रास होता है। पर सच्चे कुलस्थविर के अभाव यह समझावे कौन ? कुलस्थविर न होने से जहां-तहां कुल की मर्यादाएं भंग हो रही हैं, फिजूलखर्ची बढ़ती जाती है। कुल की ठीक व्यवस्था न होने से समाज टुकड़े-टुकड़े में बंटता जाता है और सामाजिक जीवन दुःखमय बनता जाता है। कुलधर्म की छीछालेदर हो रही है।

लौकिक कुल का उद्धार करने के लिए लौकिक कुलस्थविर की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तर कुलस्थविर की भी आवश्यकता रहती है। साधुसमाज लोकोत्तर कुल है। साधुसमाज के नियम-पालन की सारी जिम्मेदारी गुरु पर रहती है अतएव गुरु लोकोत्तर कुलस्थविर हैं। शिष्यवर्ग को आचारधर्म का शिक्षण देना, उनकी उचित आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए साधन जुटाना, यह गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्यों को विशिष्ट शिक्षा देकर विद्वान बनाना भी गुरु का ही कर्त्तव्य गिना गया है। अगर कोई अपने दस-बीस शिष्यों को ही शिक्षण देता है और शेष शिष्यों को शिक्षा नहीं देता तो वह गुरु कुलस्थविर नहीं कहला सकता। जो कुलस्थविर बालकों को बालक के योग्य और वृद्धों को वृद्धों के योग्य शिक्षा देता है और उनकी योग्यतानुसार सम्भाल रखता है उस कुलस्थविर का कुल स्थविर का कुल सदा पवित्र रहता है।

जैसे लौकिक कुलस्थविर कुलधर्म के पालन करने-कराने की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है। वैसे ही जो गुरु अपने कुल के सब साधुओं को कुलधर्म के पालन में दृढ़

बनाता है वह लोकोत्तर कुलस्थविर के बनाये नियमों को भंग करने वाले के लिए दण्डविधान की भी व्यवस्था है उसे प्रायश्चित कहते हैं। इनमें दसवां प्रायश्चित अन्तिम दण्ड है। यह दण्ड उसे दिया जाता है जो कुल में रहता हुआ कुल का नाश करता है, संघ में रहता हुआ संघ को मटियामेट करता है अथवा गण में रहकर गण का नाश करता है।

साधु अगर महाव्रतों का समूल भंग करे तो उसके लिए बड़ी से बड़ी सजा नवीन दीक्षा देना है। पर गण में भेद वाले के लिए दसवां प्रायश्चित है। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यक्तिगत अपराध करने वाला साधु आप ही भ्रष्ट होता है, मगर कुल, संघ या गण में भेद डालने वाला सारे कुल या गण को हानि पहुंचाता है। अतएव याद रखना चाहिए कि भूलचूक से भी कुल को छिन्न-भिन्न करने वाला साधु-दुष्कर्म का बन्धन करता है और सम्पूर्ण कुल का अपराधी बनता है।

कुल में कुलीनता प्रकट करना और कुल को उज्ज्वल बनाना कुलस्थविर का धर्म है। कुलदीपक बनने के लिए कुलस्थविर को आत्मभोग देकर अपने ज्ञान के प्रकाश से दूसरों को आलोकित करना चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व से विभूषित पुरुष ही कुलस्थविर के विरुद्ध के योग्य होता है।

६

गणस्थविर-गणनायक

(गण-थेरा)

मानवकुल अनेक छोटे-छोटे कुटुम्बों में बंटा हुआ है। इन सब कुटुम्बों में परस्पर प्रेम सम्बन्ध तथा योग व्यवस्था कायम करने के लिए सब कुटुम्बों का एक केन्द्रीय मण्डल स्थापित किया जाता है। वह मण्डल 'गण' कहलाता है। उसे 'कुटुम्बसमूह' भी कह सकते हैं। गण का मुख्य काम कुलों की मर्यादा की रक्षा करना होता है। 'गण' में विभिन्न कुलों की विभक्त शक्ति संयुक्त हो जाती है। जो व्यक्ति इस गणतन्त्र का नियन्त्रण और संचालन करता है, वह गणस्थविर या गणनायक कहलाता है।

प्राचीन काल में गणतन्त्र की प्रणाली अच्छी खासी प्रचलित थी भगवान् महावीर के समय अठारह गणराज्य थे और वह सब आपस में संगठित होकर रहते थे। इन अठारह गणराज्यों का स्थविर-गणराजा चेटक था।

जैन शास्त्रों में चेटक का जो परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट आभास मिलता है कि गणस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है?

भारत देश के उत्तर में, जो आजकल विहार प्रांत कहलाता है, वैशाली नामक प्रसिद्ध नगरी थी। यह नगरी

गणराज्य के ही अन्तर्गत थी। इस गणराज्य का अभिनायक चेटक था। उस समय वैशाली गणराज्य के समान और भी अनेक गणराज्य थे, जिनमें कुसीनारा, पावा, कुण्डपुर आदि प्रधान थे। वह सब गणराज्य गणतन्त्र या प्रजातन्त्र (Rupublic) राज्य थे। उस समय इन गणराज्यों का नियंत्रत और संचालन चेटक के हाथ में था।

इन गणतन्त्रों का संचालन आधुनिक प्रजातन्त्र राज्यों की भांति होता था। इन सब गणराज्यों में क्षत्रिय कुल के मुखियों की सभा (कौंसिल) मुख्य काम करती थी। इस गणतन्त्र में जो-जो जातियां (सम्मिलित) थी, वे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि चुनकर कौंसिल में भेजती थी।

गणतन्त्र की सभा की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। इस सभा में एक शासनप्रज्ञापक नियुक्त होता था, जिसका काम था आये हुए सदस्यों को उनका स्थान बतलाना। सदस्यों की उपस्थिति पर्याप्त होने पर—कोरम पूरा होने पर-ही कोई भी प्रस्ताव सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह क्रिया 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। विज्ञप्ति होने के अनन्तर प्रस्तुत प्रस्ताव पर विचार विनिमय किया जाता था। तदनन्तर उसे स्वीकृत करने या अस्वीकृत करने के सम्बन्ध में, प्रत्येक सदस्य से तीन बार पूछा जाता था। सभी सदस्य सहमत होते तो प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मतभेद होने की हालत में मतगणना की जाती थी। गणतन्त्र की इस सभा में नियमोपनियम भी बनाये जाते थे और उनका बराबार पालन किया जाता था।

गणतन्त्र की सभा बहुमत से कार्य करती थी। सभा जिस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेती उसे कार्य रूप में परिणत करने वाला गणनायक (Chief Magistrate) कहलाता था। गणनायक को सहायता देने के लिए उपराजा, भण्डारी, सेनापति आदि भी नियत किये जाते थे। गणतन्त्र का न्यायालय आदर्श ढंग का था, जहां सस्ता, सच्चा और शीघ्र न्याय किया जाता था। गणतन्त्र के सदस्यों की जहां सभा होती थी वह स्थान (Town hall) कहलाता था।

गणनायक चेटक गणराज्यों की सुव्यवस्था करने में कुशल था। सभी गणराज्यों के अधिनायक उसका नेतृत्व स्वीकार करते और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। चेटक स्वयं आढ्य, दीप्त और अपराभूत था। वह न किसी से दबता था, न किसी से प्रभावित होता था। उसकी अप्रतिम प्रतिभा के सभी कायल थे। उसके आगे सबको झुकना पड़ता था। प्रजा को सुखी बनाने के लिए वह कोई शक्य प्रयत्न बाकी नहीं रखता। अन्याय का वह प्रचण्ड विरोध करता था और न्याय के सामने सदा नम्र रहता था। इन्हीं सब गुणों के कारण दूसरे गणराज्यों के अधिनायक उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।

एक बार महाराज चेटक को, गणनायक की हैसियत से एक अत्यन्त अप्रिय कर्त्तव्य अदा करना पड़ा था। उसे मगध के सम्राट के साथ युद्ध करना अनिवार्य हो गया था। बात यह थी कि महाराज चेटक के भानेज मगध सम्राट कोणिक ने अपने छोटे भाई विहल्लकुमार के हिस्से

में आया हार और हाथी छीनने के लिए उसके साथ अन्याय किया। विहल्लकुमार घबरा कर चेटक की शरण आया। चेटक ने विहल्लकुमार की बात शान्तिपूर्वक सुनी और कहा कोणिक अन्याय के मार्ग पर है। हार-हाथी पर उसका किंचित भी अधिकार नहीं है।

मगधाधिपति कोणिक और विहल्लकुमार दोनों राजा चेटक के भानेज थे। एक न्याय-पथ पर था, दूसरा अनीति की राह पर। अन्याय का प्रतीकार करना और न्याय का संरक्षण करना गणतन्त्र का उद्देश्य है। आज गणतन्त्र के उद्देश्य की रक्षा का प्रसंग उपस्थित था। चेटक ने सब गणराज्यों के अधिनायकों को एकत्र किया और गणधर्म के सामने उपस्थित कर्त्तव्य को अदा करने के लिए समझाया। सभी गणतन्त्रों के अधिनायकों ने, सब कुछ होम कर भी अन्याय का प्रतीकार और शरणागत के प्रति न्याय करने का निश्चय किया।

गणनायक चेटक के आगे आज दोहरा कर्त्तव्य था। एक ओर गणधर्म की रक्षा और दूसरी तरफ भानेजों की रक्षा। मगधपति कोणिक भी भानेज था और विहल्ल-कुमार भी भानेज था। पर चेटक ने अन्याय के लिए कोणिक का पक्ष लिया यद्यपि वह प्रचण्ड शक्ति का धनी था। उसने निःसहाय विहल्लकुमार का पक्ष लिया जिसमें बड़ा खतरा और बड़ी मुसीबतें थीं। मगर वह वीर ही कैसा जो खतरे से डरता है और मुसीबतों से डरकर भाग खड़ा होता है? यह घटना स्पष्ट बतलाती है कि चेटक कितना निष्पक्ष और न्यायप्रिय था।

गणनायक चेटक ने दो तीन बार कोणिक को आपस में समझौता करने का सन्देश भेजा, पर सत्ता के उन्माद में भ्रात-प्रेम को भूल जाने वाले मगधपति कोणिक ने गण-नायक चेटक की शांति योजना को दुरा-दुरा दिया और युद्ध के लिए तैयारी करने का सन्देश भेज दिया। अन्त में भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध का परिणाम भले ही कोणिक के पक्ष में रहा मगर गणतन्त्र ने अपने उद्देश्य के संरक्षण के लिए जूझकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की। चेटक ने भी गणनायक का कर्त्तव्य पालन किया।

उलिखित उदाहरण से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गणतन्त्र कैसा होना चाहिये? उसका क्या कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है।

गणनायक को गणतन्त्र की व्यवस्था के लिए और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए समय और शक्ति का भोग चढ़ा देना पड़ता है।

गणनायक को अपने साथी गणराज्यों के अधिनायकों का हृदय जीतने के लिए प्रेमभाव सीखना पड़ता है और व्यक्तित्व प्रकट करना पड़ता है।

गणनायकों के अन्याय का प्रतिकार और न्याय का प्रचलन करने के लिए सदा सक्रिय प्रयत्न करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग करने योग्य आत्मबल प्राप्त करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की प्रतिष्ठा के सामने स्वजन

का भी मोह त्यागना पड़ता है।

गणनायक को गणतन्त्र की शरण में आये हुए किसी भी आश्रित की तन, मन और धन से रक्षा करनी पड़ती है।

गणनायक को सब प्रकार के पक्षपात का त्यागकर निष्पक्ष और न्यायप्रिय होकर रहना पड़ता है।

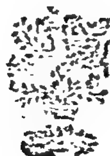
गणनायक को प्रजा के सुख दुख की रात-दिन चिंता करनी पड़ती है।

हम यह देख चुके हैं कि गणधर्म को प्रतिष्ठा के लिए गणनायक को कितना आत्मत्याग करना पड़ता है। पर इसके अतिरिक्त गणधर्म को अधिक व्यवस्थित और व्यवहार्य बनाने के लिए कई बार उसमें योग्य परिवर्तन भी गणनायक को करना पड़ता है 'गण' के नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन करने से बहुत बार गणतन्त्र के राजा अप्रसन्न भी हो जाते है। पर सच्चा गणनायक किसी की प्रसन्नता देखकर फूलता नहीं और किसी को अप्रसन्नता से घबराता नहीं है। गणनायक की चिन्ता का मुख्य विषय होता है—गणधर्म का व्यवस्थित संचालन और नियन्त्रण। प्रजा के सुख चैन की चिन्ता गणनायक सदा किया करता है। जो गणनायक 'गणतन्त्र' में अमुक परिवर्त्तन करने से अमुक नाराज हो जायगा, यह सोचकर योग्य परिवर्तन करते डरता है वह 'गणस्थविर' पद को सुशोभित नहीं कर सकता। सच्चा गणनायक वही है, जो देश-काल के अनुसार नियमोंपनियमों में योग्य परिवर्त्तन करके गणतन्त्र को व्यवस्थित

बनाता है और ऐसा करके प्रजा को सुखशांति बढ़ाता है।

लोग गर्मी के मौसम में बारीक कपड़े पहनते हैं और सर्दी के दिनों में मोटे तथा गर्म कपड़े पहनते हैं। ऋतु के अनुसार यह परिवर्तन कल्याणकारी माना जाता है। इसी प्रकार गणतन्त्र में भी देश-कालानुसार परिवर्तन करना आवश्यक है। जिस कुएं में पुराना पानी नहीं निकलता और जिसमें नवीन नहीं आता, उसका पानी सड़ जाता है। वृक्ष अपने पुराने पत्ते फेंक देते हैं। और नये धारण करते हैं। वृक्ष में अगर यह परिवर्तन न हो तो वह टिक नहीं सकता। जैन शास्त्रों में प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानी गई है। सारांश यह है कि गणनायक को गणधर्म में योग्य परिवर्तन करना चाहिए।

गणनायक अगर समय को पहचानने वाला और विवेकवान् न हुआ तो गणधर्म में किया गया परिवर्तन व्यवस्था के बदले अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। अतएव गणनायक को देश-काल का ज्ञान होना चाहिये। सच्चा गणस्थविर गणतन्त्र की बिखरी शक्ति को एकत्र करके गणधर्म की व्यवस्था में उसका उपयोग करता है। वही गणस्थविर पद को विभूषित करता है।



संघ-स्थविर

(संघ-थेरा)

जैन-शासन में संघ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संघ अर्थात् जैनशासन। साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका यह चतुर्विध संघ है। चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है क्योंकि चतुर्विध संघ पर ही धर्म टिका है। जिस संघ को आधार बनाकर धर्म टिका है, वह संघ ही अगर शिथिल होगा तो धर्म में शिथिलता कैसे न आएगी? इसलिए संघ की सुव्यवस्था कायम रखने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने संघस्थविर की आवश्यकता प्रकट की है।

सकल संघ का संचालक करना अर्थात् चतुर्विध संघ की समुचित व्यवस्था करना ही संघस्थविर का प्रधान कर्त्तव्य है।

संघ को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- लौकिक संग और लोकोत्तर संघ। श्रावक और श्राविका लौकिक संघ के सभ्य हैं तथा साधु और साध्वी लोकोत्तर संघ के। लौकिक संघ स्थविर लौकिक संघ की व्यवस्था करता है और लोकोत्तर संघ-स्थविर लोकोत्तर संघ की।

संघ में श्रावक और श्राविका का स्थान समान है।

दोनों के पारस्परिक सहकार के बिना कोई भी कार्य व्य-वस्थित नहीं हो सकता। लौकिकसंघ के इन दोनों महत्त्व के अंगों में से कोई एक अंग लंगड़ा बन जाय या बना दिया जाय तो लौकिक संघ स्वयं लंगड़ा बन जायेगा। उसकी प्रगति रुक जायगी।

ज्ञान दर्शन और चारित्र को जीवन में उतारने के लिए श्रावक और श्राविका दोनों सक्रिय प्रयत्न करें तो लौकिक संघ की उन्नति हुए बिना नहीं रह सकती। लौकिक सघ की व्यवस्था का मुख्य आदर्श लौकिक जीवन को व्यवस्थित और आदर्श बनाना है पर जीवन का आदर्श सघस्थविर के बिना समझावे कौन?

संघस्थविर अगर संघ के नियमोपनियम के अनुसार संघ की व्यवस्था करे तो संघ उन्नत बनता है। पर संघ की ठीक व्यवस्था करने के लिए स्थविर को अपने निज के जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्थान देकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ता है। संघस्थविर जब प्रभावशाली और दूरदृष्टा बनता है तब संघ प्रगति के पथ पर अवश्य प्रयाण करता है। आज सच्चे संघस्थविर के अभाव में जैसा चाहिए वैसा संघ का विधान दृष्टिगोचर नहीं होता। इस कारण संघजीवन भी अव्यवस्थित हो गया है। संघस्थविर के अभाव में श्रावक-श्राविका का जीवन क्षीण हो रहा है। इनका यथोचित विकास नहीं हो रहा है। अतएव सघस्थविर को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे श्रावक-श्राविका के जीवन का विकास हो सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर संघ के हित का दृष्टिबिन्दु

ही होना चाहिए। संघस्थविर को द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार संघ के विधान में परिवर्तन करके सघ के नियमों को व्यवहार में लाना चाहिए और संघ के उत्कर्ष के लिए प्राणपन से उद्योग करना चाहिए।

संघ की उन्नति के लिए सुन्दर संगठन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। संघ संगठित होगा तो उसका संचालन ठीक-२ होगा इसमें जरा भी सन्देह नहीं। संघस्थविर अगर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हुआ तो संघ यथोचित व्यवस्था न हो सकेगा और संघ को क्षति पहुंचेगी।

संघस्थविर को भूलना नहीं चाहिए कि उसका उत्तरदायित्व एक सेनापति से भी अधिक है। सेनापति अगर अवसर कुशल न हो तो सेना उसके काबू में नहीं रहती। इसी प्रकार अगर संघस्थविर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हो तो सारा संघ उल्टे रास्ते पर चला जा सकता है और इससे संघ को भारी धक्का लग सकता है। अतः संघस्थविर प्रभावशाली, दूरदर्शी और निस्वार्थ होना चाहिए।

जैसे लौकिक स्थविर का काम लौकिक संघ की व्यवस्था करना है उसी प्रकार लोकोत्तर संघ-स्थविर का काम लोकोत्तर संघ की सुव्यवस्था करना है। संघ में किसी प्रकार असन्तोष, विग्रह या मनोमालिन्य उत्पन्न न हो, इस बात की संघस्थविर को खूब सावधानी रखनी पड़ती है। अगर कोई संघ में भेद करने की या विग्रह पैदा करने की चेष्टा करता है तो उसे दण्ड देने का अधिकार स्थविर को है संघ में शान्ति कायम करने का प्रयत्न करना स्थ-

विर का मुख्य कर्त्तव्य है। जो पुरुष त्याग और सेवाभाव के साथ सकल संघ का संचालन करता है और संघ की उन्नति के लिए दत्तचित रहता है, वह अपने संघस्थविर के पद को उज्ज्वल करता है।

८

जातिस्थविर-समाजस्थविर

[जाति-थेरा]

मनुष्य, पशु पक्षी आदि किसी भी जीवधारी का सूक्ष्म अवलोकन कीजिए स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी अपना सजातीय सहचर खोजता है इसी सजातीय सहचर्य से समाज की उत्पत्ति होती है। समाज में रहकर ही प्राणी अपना जीवन सुखमय बनाते हैं। चूंकि मनुष्य सब प्राणियों में अधिक विवेकशील है अतएव मनुष्य समाज भी अधिक श्रेष्ठ है। पशुओं के समूह को 'समाज' कहते हैं और मनुष्यों का समूह समाज कहलाता है। भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से समाज का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

'मनुष्यजातिरेकैव' इस कथन के अनुसार मनुष्य जाति एक है। इसी प्रकार पशुजाति एक है, पक्षीजाति एक है। किन्तु पक्षी जाती में जैसे मोर, तोता, कौवा

आदि तथा पशुजाति में घोड़ा, गाय, भैंस आदि अनेक उप-जातियां है, इसी प्रकार मानवजाति एक होने पर वर्णभेद और जातिभेद के कारण अनेक उपजातियों में बन्टी है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि पशुओं और पक्षियों में जो उपजातियां हैं, वह प्राकृतिक हैं, क्योंकि उनकी आकृति आदि में जन्मजात भिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं। मनुष्य जाति में ऐसा कोई भी प्राकृतिक भेद नही है। मनुष्यजाति की वर्णगत भिन्नता सामाजिक सुविधा के लिए कल्पित की गई है।

समाज, व्यक्ति नहीं है। समाज पारस्परिक सुविधा के लिए व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक तन्त्र है। अपना और अपनी जाति का तन्त्र व्यवस्थित चलाने के लिए तथा अपने द्वारा खड़े किये हुए समाज को सुखी बनाने के लिये समाज की व्यवस्था की गई है।

व्यक्ति और समाज दोनों का तादात्म्मय सम्बन्ध है। व्यक्तियों के आकार पर समाज टिका हुआ है या समाज के सहारे व्यक्ति जी रहा है, यह कहना कठिन है। फिर फिर भी यह निश्चित है कि व्यक्ति के उत्थान में समाज का उत्थान है और व्यक्ति के विनाश में समाज का विनाश सन्निहित है।

सम्पूर्ण समाज का तन्त्र व्यक्ति के हाथ में हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज एक अंग है और समाज व्यक्तियों से बना है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मैं समाज का हू और समाज मेरा है, जहां इस प्रकार की समाजभावना-

जातिभावना विद्यमान रहती है, समझना चाहिये कि वह समाज या जाति, प्रगति के पथ पर है।

कुटुम्ब या जाति की सुचारु व्यवस्था करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति वर्ग की स्थापना करता है। पर वह वर्ग अगर कुटुम्ब, समाज या जाति में वर्गविग्रह या वाड़ावन्दी खड़ा करते हैं तो मानना चाहिए कि वर्गों ने कुटुम्ब की समाज की अथवा जाति की व्यवस्था करने के बदले उनमें अव्यवस्था उत्पन्न की है और वे रक्षण करने के बजाय भक्षण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में समाज या जाति का विधान सुधारना या नया गढ़ना जातिस्थविर का कर्त्तव्य हो जाता है। जो मनुष्य समाजोत्थान के लिए तन-मन-धन से सतत प्रयत्न करता है, और समाज का सुचारु रूप से नियन्त्रण और संचालन करता है, वह व्यक्ति समाज-स्थविर कहलाता है। समाज-स्थविर को सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह समाज का सेवक भी और नायक भी है।

समाज और जाति में किस प्रकार के रीति-रिवाजों का प्रचलन करने से जाति या समाज का हित होगा और किन रिवाजों को बन्द करने से समाज का उत्कर्ष होगा, इस बात पर देश-काल के अनुसार विचार करना और उस विचार को क्रिया का रूप देना समाजस्थविर का कर्त्तव्य है।

समाज या जाति में कितने मनुष्य बेकार हैं, कितने दुःखी हैं, कितने अज्ञानी हैं और किस मार्ग का अवलम्बन करने से जाति में ज्ञान, उद्योग एवं रोजगार की व्यवस्था हो, आदि समाज के व्यवहार-विषयक एवं विवाह-विषयक

विचारणीय प्रश्नों को सुलझाना जातिसेवक का खास कर्त्तव्य है।

परिपक्व बुद्धिवाला कर्त्तव्यपरायण और विचारशील पुरुष जाति की सेवा बजा सकता है। उतावला, बातूनी और झगड़ाखोर मनुष्य जाति की सच्ची सेवा नहीं कर सकता। समाज में बहुतेरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जाति-सेवक को हतोत्साह करने का उद्योग करते हैं। ऐसे प्रसंग पर समता एवं धैर्य धारण कर कर्त्तव्य में जुटे रहने में जाति-सेवक को शोभा है।

प्रत्येक जाति में अनुभवी जातिसेवकों की बहुत आवश्यकता है। अगर जाति में या समाज में अनुभवी और विचारक व्यक्ति न हो तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने को आशंका रहती है। युवकहृदय जोश में आकर कभी-कभी ऐसे कामों को उठा लेते हैं जिसे समाज अपनाने को तैयार नहीं होता। अतएव साठ वर्ष तक समाज या जाति का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति समाजसेवक बन कर सफलता प्राप्त कर सकता है।

आज अनुभवहीन मनुष्य भी समाजसेवक का पद ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाते हैं। पर जब समाज-व्यवस्था करने का दु:साध्य कार्य सिर पर आ पड़ता है तब दूर खिसक जाते हैं। अतएव आज अनुभवी जाति सेवक न होने के कारण ही समाज में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है।

युवकवर्ग पर आज यह आरोप लगाया जाता है कि वे समाज की स्थिति सम्बन्धी अज्ञान के कारण समाजो-

द्धार के नाम पर समाज की हानि कर रहे है। पर वास्तव में यह बात एकांत सत्य नहीं है। इसके विपरीत अनेक वृद्ध, युवकों की अपेक्षा अधिक विचारहीन और उच्छृङ्खल दिखाई देते हैं। वे कुरुढ़ियों को पकड़े बैठे रहते हैं और 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की नीति का अनुसरण करके समाज का अहित करते हैं। जब युवक उन कुरूढ़ियों का उच्छेद करने की बात कहते हैं तो वे खफा हो जाते हैं। उन्हें इतना विचार नहीं कि खराब रूढ़ियों के कारण जाति या समाज का अधःपतन हो रहा है। सच्चे समाजसेवक हों तो वे युवकों और वृद्धों को समाजोद्धार का मार्ग बता सकते हैं, पर जहां समाजसेवक का ही अभाव हो वहां समाज सुधार की क्या कथा ?

समाजसेवक के अभाव में जहां देखो वहीं युवक बेकार और आदर्शहीन होकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। सच-मुच समाज में बड़ो दुर्व्यवस्था हैं। जब तक समाज की यह दुर्व्यवस्था दूर न की जाय और सुव्यवस्था स्थापित न की जाय, तब तक समाज सुधार को आशा नहीं रखी जा सकती।

लौकिक जातिस्थिर के समान लोकोत्तर जातिस्थविर भी होता है। लोकोत्तर जाती के नियमोपनियम पढ़ना और उनका पालन कराना, तथा देश-काल के अनुसार लोकोत्तर जाति में संशोधन करके साधुसमाज को प्रगति के पथ पर ले जाना और इस प्रकार जनसमाज का हित साधन करना लोकोत्तर जातिस्थविर का कर्त्तव्य है।

सारांश यह है कि जाति का सुधार करने के लिए

प्रत्येक सम्भव उपाय काम में लाकर समाज का उद्धार करना समाजसेवक का कर्त्तव्य है । इसी कर्त्तव्य पालन में समाज, जाति और धर्म का कल्याण है ।



६

सूत्र-स्थविर

(सुथ—थेरा)

न ही ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

जगत् में ज्ञान के समान कोई भी दूसरी वस्तु पवित्र नहीं हैं । जल से शरीरशुद्धिकी जा सकती हैं, पर जीवन-शुद्धि-आत्मशुद्धि के लिए तो ज्ञान ही चाहिए । ज्ञान अन्तर-चक्षु है । आंतरिक चक्षु के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर भागता है और आत्मा की ज्योति प्रकट होती है । जो व्यक्ति अपने ज्ञान-चक्षु का प्रकाश, अज्ञान अंधकार में भटकने वाले प्राणियों को दान करता है और उन्हें सन्मार्ग बतलाता है, वह ज्ञानमार्ग का दाता कहलाता है । वह शास्त्र के शब्दों में 'सूत्रस्थविर' कहा गया हैं । 'सूत्र' का अर्थ सिर्फ सूत्र की बांच जाना या पढ़ लेना मात्र नहीं है । 'सूत्र' का अर्थ है वस्तुस्वरूप को अपने अनुभव में उतार कर उसका विवेक करना । जो व्यक्ति सूत्रप्ररूपित वस्तु को

अनुभव में उतार कर उसे आत्मसात् कर लेता है और अपने अनुभव का जनसमाज में प्रचार करता है वह 'सूत्र-स्थविर' कहलाता है। 'सूत्र' का पाठ कर लेना और सूत्र-ज्ञान को अनुभव में उतारना दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु है।

सूत्र के शब्दों का पारायण कर लेना सरल है, पर उसे अनुभव में उतारना कठिन है। वर्षों के वर्ष लगाकर, अनुभवों का प्रयोग करते-करते, अन्त में सूत्रज्ञानों किवेक प्रगट होता है। तभी सूत्र की 'आत्मा समझ में आती है। जन समाज को सूत्र की आत्मा रहस्य-सार समझाना और उसके प्रचार के लिए यथाशक्ति उद्योग करना सूत्रस्थविर कर्त्तव्य है।

सूत्रज्ञान का प्रचार करने के लिए सूत्रस्थविर सर्व-प्रथम जनता को श्रद्धा आत्मविश्वास की उपयोगिता सम-झाता है। श्रद्धा, ज्ञान को भूमिका है। सूत्रस्थविर जब समझाता है कि जनसमाज में ज्ञान की भूमिका श्रद्धा मज-बूत हो गई है, तब वह ज्ञान को महत्ता समझाता है। तदनन्तर वह ज्ञान को क्रिया के रूप में अवतरित करने की प्रेरणा करता है। सूत्रस्थविर बराबर समझता है-श्रद्धा-वांल्लभने ज्ञानम् अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति ही सूत्रज्ञान का अधिकारी है। जिज्ञासावृत्ति जागी नहीं है, जो सुनने के लिए उत्सुक नहीं हुआ है, जो सचमुच 'श्रावक' नहीं बना है, वह व्यक्ति ज्ञानोपार्जन किस प्रकार कर सकता है? अतएव सूत्र स्थविर सर्वप्रथम, ज्ञान-प्रचार के लिए जन-समाज में श्रद्धबुद्धि और जिज्ञासावृत्ति जागृत करता है और फिर ज्ञान का उपदेश करता है। अज्ञानी,

और संशयात्मा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

अनुभववृद्ध और ज्ञानवृद्ध सूत्रस्थविर, सूत्रधर्म के यथावत् प्रचार और पालन करने कराने की सदैव चिन्ता रखता है। सूत्र ज्ञान का विशेष प्रचार करने के लिए वह जगह-जगह घूम कर उपदेश देता है। अगर कोई जिज्ञासु पुरुष, सूत्रधर्म के सम्बन्ध में श्रद्धाबुद्धि से किसी प्रकार की शंका करता है तो वह शंका का समाधान करता है। यह सब सूत्रस्थविर के कर्त्तव्य है।

आजकल अज्ञानांधकार इतना अधिक फैल गया है कि जैन-समाज में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती नजर आ रही है। धर्मोद्योत करने के लिए अज्ञान को दूर करने और ज्ञान का प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान की ज्योति जहां प्रकट होगी, वहां अज्ञान, अश्रद्धा पल भर न टिक सकेंगे। पर प्रश्न तो यह है कि सूत्रस्थविर के बिना ज्ञान की ज्योत जगावे कौन ?

सूत्रस्थविर ज्ञानज्योतिर्धर है, ठाणांग और समवायांग सूत्रों का वशिष्ट ज्ञाता ही सूत्रस्थविर कहला सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार क्षण भर भी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अज्ञान और अश्रद्धा का आंतरिकतम क्षणभर में विलीन हो जाता है।

१०

पर्यायस्थविर-संयमस्थविर

(परियाय-थेरा)

ज्ञानस्य फलं विरतिः ।

सूत्रज्ञान जब आचार में उतरता है तब जीवन में संयम प्रकट होता है और बीस वर्ष पर्यन्त शास्त्र की मर्यादा के अनुसार संयम को साधना करने के पश्चात् जो व्यक्ति संययात्मा बनता है—अर्थात् जो अपने शरीर, मन और बुद्धि को ज्ञानपूर्वक आत्मा के वशीभूत बना लेता है, जितेन्द्रिय बन जाता है, वह महात्मा पुरुष संयमस्थविर कहलाता है ।

संयमस्थविर के बनने के लिए कितने ही वर्षों तक संतत ज्ञानोपासना के साथ आत्मदमन की विद्या सीखनी पड़ती है । साधक पुरुष जब वर्षों के वर्ष ज्ञान की उपासना में व्यतीत करता है तब उसे ज्ञानसिद्धि प्राप्त होती है और वह साधक स्वयं सशरीर शास्त्र रूप (ज्ञानमूर्ति) बन जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ? मगर अकेली ज्ञानसिद्धि से ही तो जीवनसिद्धि हो नहीं जाती । जीवन-सिद्धि के लिए ज्ञानसिद्धि के साथ-साथ संयमसिद्धि की भी आवश्यकता रहती है और संयम की सिद्धि के लिए साधक पुरुष को शास्त्रोक्तयम नियमों को जीवन में मूर्त्तिमान् बनाना

पड़ता है। इस प्रकार जब ज्ञान और संयम का, विचार एवं आचार का मेल होता है तब जीवन-शुद्धि का सौरभ चहुं ओर से फैले और अनेक पुण्यात्माओं के जीवन संयम-सौरभ से सुवासित हों यह स्वभाविक ही है। पर ज्ञान और संयम का या विचार और आचार का मेल करना हंसी-खेल नहीं है। संयमस्थविर बनाना साधारण जन के लिए तो क्या, सब मुनियों के लिए भी कठिन है।

'संयम नो मारग छे शूरां नो' यह गुजराती की धर्मोक्ति संयम मार्ग के पालन की कठिनाई को चेता देती है। संयम का मार्ग कायर पुरुषों का नहीं है। जो व्यक्ति दुश्चर संयमधर्म को जीवन में स्थान देते हैं और ज्ञान-चारित्र का समन्वय करते हैं, वे अपने आपको सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाते हैं।

पहले जिन दस धर्मों का विवेचन किया गया है उन सबका पर्यावसान संयमधर्म में होता है। संयमधर्म साध्य है, शेष धर्म साधन हैं संयमधर्म सब धर्मों का सार है। जो पुरुष संयमधर्म को, धर्मों का सार समझकर अपने जीवन में उतारेंगे वे धर्म का अमृत पान करेंगे और अजर—अमर बनेंगे।

जवाहर-साहित्य

	किरण		किरण
दिव्य दान	१	दिव्य जीवन	२
दिव्य संदेश	३	जीवन धर्म	४
सुबाहुकुमार	५	रूक्मिणी विवाह	६
जवाहर स्मारक	७	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-१	८
म्यक्त्व पराक्रम भाग-२	९	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-३	१०
यक्त्व पराक्रम भाग-४	११	सम्यक्त्व पराक्रम भाग-५	१२
और धर्म नायक	१३		
म वन गमन भाग-१	१४	राम वन गमन भाग-२	१५
अंजना	१६	पाण्डव चरित्र भाग-१	१७
पाण्डव चरित्र भाग-२	१८	बीकानेर के व्याख्यान	१९
शालिभद्र चरित्र	२०	मोरवी के व्याख्यान	२१
सम्वत्सरी	२२	जामनगर के व्याख्यान	२३
प्रार्थना प्रबोध	२४	उदाहरण माला भाग-१	२५
उदाहरण माला भाग-२	२६	उदाहरण माला भाग-३	२७
नारी जीवन	२८	अनाथ भगवान भाग-१	२९
अनाथ भगवान भाग-२	३०	गृहस्थ धर्म भाग-१	३१
गृहस्थ धर्म भाग-२	३२	गृहस्थ धर्म भाग-३	३३
सती राजमति	३४	सती मदनरेखा	३५
हरिशचन्द्र तारा	३६	सकडाल पुत्र : श्रावक	३७
जवाहर ज्योति	३८	जवाहर विचारसार	३९
सुदर्शन चरित्र	४०	सती वसुमति भाग-१	४१
सती वसुमति भाग-२	४२		

४३ से ५० भगवती सूत्र के व्याख्यान भाग- १ से ८